हिन्दी परामर्श समिति ग्रन्थमाला—५

सामाजिक पाषण

(रूसो कृत सोशल कन्ट्रैक्ट का अनुवाद)

डा० धीरेन्द्र वर्मा पुस्तक-संग्रह

अनुवादक

डा० बूलचन्द, आई. ए. एस.

प्रकाशन ब्यूरो

उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९५६

मूल्य
तीन रुपये

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राज-कार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाङ्मय के सभी अवयवों पर प्रमाणित ग्रन्थ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता में एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गई है। यह समिति विगत वर्षों में हिन्दी के ग्रन्थों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढ़ाती रही है और अब उसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरंभ किया है।

समिति ने वाङ्मय के सभी अंगों के संबंध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंचवर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्रायः वे सब विषय ले लिये गये हैं जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषयों को दी जाय जिनकी हिन्दी में नितांत कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरंभ करने का यह आशय नहीं है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते हैं जिनका प्रकाशन कतिपय कारणों से अन्य स्थानों से नहीं हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रों से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भंडार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

भगवती शरण सिंह

सचिव

हिन्दी परामर्श समिति

विषय-सूची

पुस्तक—१

पुस्तक—२

पुस्तक—३

पुस्तक—४

पुस्तक १

परिच्छेद १

प्रथम पुस्तक का विषय

मनुष्य जन्मतः स्वतंत्र है परंतु हर जगह वह बन्धनयुक्त दिखाई देता है। अनेक व्यक्ति अपने आपको अन्यों का स्वामी समझते हैं, परंतु वे उन अन्यों की अपेक्षा अधिक पराधीन होते हैं। यह परिवर्तन किस प्रकार घटित हुआ, मुझे ज्ञात नहीं। इस परिवर्तन को न्याय-संगत कैसे बनाया जा सकता है? मुझे विश्वास है कि इस प्रश्न का समाधान मैं कर सकता हूँ।

केवल बल और उसके परिणामों की ओर ध्यान केन्द्रित करते हुए मैं यह कहूँगा कि कोई राष्ट्र, जिसे अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया जावे, अधीनता स्वीकार करके श्रेष्ठता का पात्र होता है, परंतु ज्योंही वह पराधीनता की बेड़ी को तोड़ने में सक्षम हो तो उसे तोड़ डालने में श्रेष्ठता का और अधिक पात्र होता है, क्योंकि यदि मनुष्य अपने स्वातंत्र्य को उसी अधिकार के अंतर्गत प्रत्यादत्त कर लेते हैं जिसके अंतर्गत इसे लुप्त किया था तो या तो वे उसे पुनर्ग्रहण करने में निर्दोष हैं या उन्हें इससे वंचित करना दोषयुक्त था। परंतु सामाजिक सु-व्यवस्था एक पवित्र अधिकार होता है जो अन्य सर्व अधिकारों के आधार का कार्य करता है। अपरंच यह अधिकार प्रकृति से प्राप्त नहीं होता, यह रूढ़ियों पर आधारित होता है। इसलिए प्रश्न यह आता है कि यह रूढ़ियाँ क्या वस्तु हैं। इसका विवेचन करने से पहिले मैं यह आवश्यक समझता हूँ कि अपने उपरोक्त कथन को युक्ति द्वारा सिद्ध कर दूँ।

परिच्छेद २

आद्य समाज

समाजों में पूर्वतम और एकमात्र प्राकृतिक समाज कुटुम्ब होता है परंतु बच्चे अपने पिता से केवल तभी तक सम्बद्ध रहते हैं जब तक उन्हें अपनी परिरक्षा के लिए उस सम्बद्धता की आवश्यकता होती है। ज्योंही इस आवश्यकता की समाप्ति हो जाती है, प्राकृतिक बंध लुप्त हो जाता है। बच्चे अपने पिता के आज्ञापालन से स्वतंत्र हो जाने से और पिता अपने बच्चों की चिन्ता के बंधन से मुक्त हो जाने से दोनों समानतः स्वाधीन हो जाते हैं। यदि वे तदनंतर सम्मिलित रहें तो प्राकृतिक बाध्यता के अंतर्गत नहीं रहते, स्वेच्छा से स्वयं रहते हैं। कुटुम्ब केवल रूढ़ि के आधार पर स्थापित रहता है।

उपरोक्त पारस्परिक स्वातंत्र्य मनुष्य की प्रकृति का परिणाम है। मनुष्य का प्रथम सिद्धांत अपने परिरक्षण की चिन्ता होता है। उसकी प्रथम चिन्ताएँ वे होती हैं जिनका वह निज के प्रति उत्तरदायी होता है और ज्योंही वह विवेक की अवस्था को प्राप्त हो जाता है अपने परिरक्षण के लिए कौन से उपाय श्रेष्ठतम होंगे उसका स्वयं निर्णायक होने के कारण स्वाधीन हो जाता है।

अतः कुटुम्ब ही राजनीतिक समाज का आद्य नमूना है। पिता राजक का प्रतिबिम्ब है और बच्चे प्रजा के प्रतिबिम्ब, और जन्मतः ही समग्न और स्वतन्त्र होने के कारण सब अपनी स्वतंत्रता को केवल अपने लाभार्थ ही अन्यक्रामण करते हैं। अंतर केवल इतना है कि कुटुम्ब में अपने बच्चों का प्रेम पिता को बच्चों के प्रति उठाई हुई तकलीफों का प्रतिशोधन होता है, राज्य में शासन का आनन्द राजक के प्रेम के अभाव की पूर्ति करता है।

ग्रोशस (Grotius) इसे अस्वीकार करता है कि सब मानुषिक शासन शासितों के हितार्थ ही स्थापित होते हैं। वह दासत्व का उदाहरण देता है। उसकी चातुरीपूर्ण तर्क विधि है, सदा तथ्यों से अधिकारों को प्रतिष्ठापित करना। इससे अधिक

न्यायसंगत तर्क-शैलियाँ तो अवश्य हैं परन्तु एकाधिकारियों का इससे अधिक अनुमोदन करनेवाली कोई नहीं।

इसलिए ग्रोशस (Grotius) के कथनानुसार यह संदिग्ध रहता है कि मानव जाति सौ मनुष्यों की सम्पत्ति है अथवा सौ मनुष्य मानव जाति की सम्पत्ति हैं, और स्वयं वह अपनी पुस्तक में सर्वत्र प्रथम मत की ओर ही प्रवृत्त होता है। यही भाव हॉब्स (Hobbes) के हैं। इस प्रकार मानव जाति पशु-झुंड की तरह खण्डों में विभाजित कर दी गयी है कि प्रत्येक खण्ड का एक स्वामी हो जो भक्षणार्थ इसकी प्रतिरक्षा करे।[1]

यथा चरवाहा गुणों में पशु-झुंड से श्रेष्ठ होता है, इसी प्रकार जनसमूह के चरवाहे राजकगण भी गुणों में लोगों से श्रेष्ठ होते हैं। फिलो के विवरणानुसार सम्राट् कैलीगुला ने इसी प्रकार तर्क किया था और वह इस सादृश्य से इस अनुमान पर पहुँचा कि राजा ईश्वर होता है और प्रजा पशुवत् प्राणी।

ग्रोशस और हॉब्स का तर्क भी कैलीगुला के तर्क के समान है। इन सबके पूर्व ऐरिस्टॉटल (Aristotle) ने भी कहा था कि प्रकृति के सब लोग समान नहीं हैं, कुछ जन्मतः ही दास होते हैं और कुछ शासक।

ऐरिस्टॉटल का कथन युक्तियुक्त था परंतु उसने अपने परिणाम को कारण समझने की भूल की। प्रत्येक मनुष्य जो दासत्व में पैदा होता है दासत्वार्थ ही पैदा होता है यह स्वतः सिद्ध तत्त्व है। अपने बंधनों में दास लोग सब कुछ खो देते हैं, बंधनों से छूटने की अभिलाषा तक; वे अपने दासत्व से स्निग्ध हो जाते हैं जैसे यूलीसिस के साथी अपनी पशुवृत्ति से स्निग्ध हो गये थे। इसलिए यदि कोई स्वभाव से ही दास होता है तो इसका कारण केवल यह है कि वह प्रकृति के प्रतिकूल दास बना दिया गया था। सर्वप्रथम दास बल द्वारा बनाये गये थे, निज भय के कारण वे दासत्व में स्थिर रह गये।

आदिम राजा और सम्राट नोह के सम्बन्ध में जो विश्व का विभाजन करनेवाले शनिग्रह के बच्चों के समान तीन महान अधिपों (जिन्हें इनका ऐकात्म्य समझा जाता है) का पिता था, मैंने कुछ नहीं कहा है। मुझे आशा है कि मेरे संयम से लोगों को संतोष

१ 'पब्लिक ला' सार्वजनिक विधान के, क्षेत्र में विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान बहुधा प्राचीन कुव्यवहारों के इतिहास मात्र हैं और इनका कष्टसाध्य अध्ययन एक दुराग्रह है। ग्रोशस (Grotius) ने यह यथार्थ ही कहा है। (१७८२ के संस्करण में)।

होगा, क्योंकि इनमें से किसी एक, सम्भवतः सबसे जेठे, अधिप का वंशज होने के कारण, कौन कह सकता है कि अधिकारों की विवेचना के परिणामस्वरूप, मैं ही मानवजाति का न्यायानुकूल राजा सिद्ध न हो जाऊँ? परंतु कुछ भी हो, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आदिम विश्व का सम्राट उसी प्रकार था जिस प्रकार रॉबिनसन अकेला निवासी होने के कारण अपने द्वीप का सम्राट था, और इस साम्राज्य का सबसे स्निग्ध अंग यह था कि सम्राट् को किसी विद्रोह, युद्ध अथवा षड्यंत्रों द्वारा अपना राज्यासन खोने का भय ही नहीं था।

परिच्छेद ३

शक्तिशालीतम का अधिकार

सबसे शक्तिशाली मनुष्य भी इतना शक्तिशाली नहीं होता कि अपनी शक्ति को अधिकार में और दूसरों की आज्ञानुसारिता को कर्तव्य में परिवर्तित किये बिना सदा स्वामी रह सके। इसलिए शक्तिशालीतम का अधिकार, प्रत्यक्षतः विपरीत लक्षणा होते हुए भी, यथार्थ में सिद्धान्त पर स्थापित है। परंतु क्या कोई इस शब्द का विवेचन नहीं करेगा? बल एक भौतिक शक्ति है। इसके फलस्वरूप क्या शील उत्पन्न हो सकता है, मुझे स्पष्ट नहीं। बल को अनुनमन करना एक लाचारी क्रिया होती है, इच्छित क्रिया नहीं हो सकती, अधिक से अधिक यह एक चतुराई की क्रिया हो सकती है। परन्तु क्या किसी अवस्था में यह कर्तव्य भी माना जा सकता है?

इस मिथ्या अधिकार को तनिक कल्पित भी कर लें तो इससे तर्कहीन प्रलाप के अतिरिक्त कुछ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यदि बल में अधिकार निहित हो तो परिणाम कारण के अनुरूप बदल जायगा, और जो बल पहले बल को पराजित कर देगा वह उसके अधिकारों का भी उत्तरवर्ती हो जायगा। ज्योंही मनुष्य आत्महानि के भय से सुरक्षित हो अवज्ञा कर सकता है, उसे न्यायपूर्वक ऐसा करने का अधिकार होगा, और चूँकि शक्तिशालीतम मनुष्य सदा साधिकार होता है इसलिए व्यक्ति को स्वयं शक्तिशालीतम बनने के लिए ही क्रियाशील होना चाहिये। परंतु यह किस प्रकार का अधिकार होगा जो बल के क्षीण होते ही समाप्त हो जाय। अपरंच, यदि आज्ञा-पालन बल से ही आवश्यक है तो आज्ञापालन के कर्तव्य का प्रयोजन ही क्या हुआ, और यदि मनुष्यों को आज्ञापालन को बाध्य करना नहीं है तो कर्तव्यता का अंत हो जायगा। उपरोक्त से स्पष्ट है कि शब्द-बल से युक्त अधिकार से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वह सर्वथा निरर्थक है।

विद्यमान शक्तियों का आज्ञानुसरण करो। यदि इसका यह अर्थ हो कि बल का अनुगमन करो तो उपदेश उचित है परंतु व्यर्थ, क्योंकि इसका कभी उल्लंघन होने-वाला ही नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि सर्वशक्ति ईश्वर प्रदत्त होती है परंतु सब व्याधियाँ भी तो वहीं से आती हैं। क्या इसका यह अर्थ है कि चिकित्सक को बुलाना वर्जित होगा ? यदि कोई लुटेरा एक घने वन में मुझ पर अकस्मात् आक्रमण करे तो मुझे अपना बटुआ बाध्य होकर तो उसे देना ही होगा, परंतु क्या यह मेरा नैतिक कर्तव्य भी है कि जब बटुए को छिपाना मेरे लिए सम्भाव्य हो तो भी मैं उसे लुटेरे के सुपुर्द कर दूँ, क्योंकि अन्त में जो उसके पास तमंचा है, वह अधिक बल का द्योतक है।

उपरोक्त से यह सिद्ध है कि बल से अधिकार उत्पन्न नहीं हो जाता, और न्याय-युक्त शक्तियों के अतिरिक्त हमें किसी का आज्ञानुकरण बाध्य नहीं है। इस प्रकार मेरा आरम्भिक प्रश्न निरन्तर पुनः प्रस्तावित होता है।

परिच्छेद ४

दासत्व

क्योंकि किसी मनुष्य का अपने सहचरों पर किसी प्रकार का प्राकृतिक प्रभुत्व नहीं होता और क्योंकि बल अधिकार का श्रोत नहीं होता, इसलिए रूढ़ियाँ ही मनष्य में समस्त वैध प्रभुत्व का आधार होती हैं।

ग्रोशस कहता है कि यदि एक व्यक्ति अपने स्वातंत्र्य को अन्यक्रामित करके किसी स्वामी का दास बन सकता है तो कोई समस्त राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता को अन्यक्रामित कर किसी राजा की प्रजा क्यों नहीं बन सकता। उपरोक्त वाक्य में अनेक संदिग्ध शब्द हैं जिनकी व्याख्या करना आवश्यक है, परंतु शब्द 'अन्यक्रामण' की ओर ही हम अपना ध्यान सीमित करेंगे। अन्यक्रामण करने का अर्थ है देना अथवा बेचना। परन्तु जो मनुष्य किसी दूसरे का दास बनता है वह अपने आपको दूसरे को देता नहीं है, केवल अपने निर्वाह के हेतु अपने आपको दूसरे को विक्रय कर देता है। परंतु कोई राष्ट्र अपने आपको क्यों बेचेगा ? अपनी प्रजा को निर्वाह-साधन उपलब्ध करने के स्थान पर राजा स्वयं निर्वाह के साधन प्रजा से लेता है, और रेबीलेज के कथनानुसार राजा किसी थोड़े अंश पर निर्वाह नहीं करता। तो क्या प्रजा अपने शरीर को इस शर्त पर पराधीन करती है कि उनकी सम्पत्ति भी उनसे ले ली जायगी ? तो उनके पास परिरक्षित रखने को क्या रह जायगा, यह समझ में नहीं आता।

कुछ लोग यह कहेंगे कि स्वेच्छाचारी राजा अपनी प्रजा को सामाजिक शांति उपलब्ध करता है। हो सकता है, परंतु उससे उन्हें क्या लाभ, यदि उसकी लालसा के अंतर्गत उन पर आरोपित होनेवाले युद्ध और उसके अपने अतृप्य लोभ और उसके प्रशासन के प्रबाधन उन्हें अपने पारस्परिक संघर्षों से भी अधिक दिक करनेवाले हों ? उस प्रशांति से क्या लाभ, यदि यह प्रशांति ही उनके दुखों का एक कारण बन जाय ? मनुष्य कारावास में भी प्रशांत रहता है, परंतु क्या उसे वहाँ आनंद होता है ? साइ-

क्लोप्स की गुफा में कारावासित यूनानी भी प्रशांति से निवास करते थे जब तक उनकी भक्षण होने की बारी नहीं आती थी।

यह तर्क करना कि मनुष्य अपने आपको, कुछ प्राप्त किये बिना ही दे देता है, बिलकुल हास्यास्पद और अविचारणीय है। उपरोक्त क्रिया अवैधानिक और अनुचित है। केवल इस कारण कि जो इस क्रिया को करता है उसकी बुद्धि ठीक नहीं हो सकती। एक समस्त राष्ट्र के लिए इस प्रकार की धारणा करने का अर्थ यह है कि उन्मत्तों का राष्ट्र अनुमानिक किया जाय, और उन्मत्तता से अधिकार प्रदान नहीं किये जा सकते।

यदि यह मान भी लिया जाय कि कोई व्यक्ति अपने आपको अन्यक्रामित कर सकता है, तो वह अपने बच्चों को तो अन्यक्रामित नहीं कर सकता। वे जन्मतः स्वतंत्र मनुष्य होते हैं, उनका स्वातंत्र्य उनका निजी है और सिवाय उनके किसी अन्य को उसे अन्यक्रामित करने का अधिकार नहीं है। उनके विवेकावस्था को प्राप्त होने से पहिले पिता उनके परिरक्षण और कल्याण के हेतु उनके नाम से शर्तें निर्दिष्ट कर सकता है परंतु उन्हें अटल रूप में एवं बिना शर्त के किसी की अधीनता में नहीं दे सकता, क्योंकि इस प्रकार का देना प्रकृति के प्रयोजन के प्रतिकूल होगा और पितृत्व के अधिकारों का अतिरेक होगा। इसलिए स्वेच्छाचारी शासन को न्यायसंगत बनने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक पीढ़ी में लोग इसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का अधिकार प्रयुक्त करें। परंतु उस दशा में शासन स्वेच्छाचारी रहेगा ही नहीं।

अपने स्वातंत्र्य के परित्याजन का अर्थ यह होता है कि व्यक्ति अपने मनुष्यत्व और मानुषिक अधिकारों और कर्तव्यों का परित्याजन कर रहा है। जो प्रत्येक वस्तु का परित्याजन करता है, उस व्यक्ति के लिए कोई क्षतिपूर्ति ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार का परित्याजन मनुष्य की प्रकृति के असंगत है, क्योंकि प्रेरणा से समस्त स्वतंत्रता को विलग करने का अर्थ यह है कि क्रियाओं को नीतिविहीन बना दिया जाय। संक्षेप में, ऐसी रूढ़ि जो एक ओर सम्पूर्ण शक्ति और दूसरी ओर असीमित अनुशासन को निर्दिष्ट करती है, निरर्थक और असंगत होती है। क्या यह स्पष्ट नहीं है कि किसी ऐसे मनुष्य के प्रति जिससे हमें सब कुछ लेने का अधिकार है, हमारे कोई कर्तव्य नहीं होते, और क्या केवल यही एक दशा जिसमें न समानता और न आदान-प्रदान निहित है उस क्रिया को प्रवृत्तिहीन नहीं बना देती ? क्योंकि मेरे दास का मेरे प्रति क्या अधिकार हो सकता है, जब सब कुछ जो उसके पास है वह मेरा ही हो। उससे समस्त अधिकार यथार्थ में मेरे ही होने के कारण, मेरे अधिकार मेरे अपने ही विरुद्ध एक निरर्थक-सा वाक्यांश हो जाता है।

गोशस और अन्य लेखक दासत्व के मिथ्या अधिकार के एक अन्य स्रोत का युद्ध में निरूपण करते हैं। उनके अनुसार, विजेता को विजित के वध का अधिकार होने से, विजित अपनी स्वतंत्रता विक्रय करके जीवन क्रय कर सकता है, यह रीति दोनों पक्षों को लाभप्रद होने के कारण बिल्कुल न्यायसंगत है।

परन्तु यह स्पष्ट है कि विजित के वध का मिथ्याधिकार किसी प्रकार भी युद्धावस्था का परिणाम नहीं हो सकता। अपनी आद्य स्वतंत्र दशा में रहते हुए मनुष्यों के पारस्परिक संबंध इतनी पर्याप्त मात्रा में स्थायी न होने से कि उनसे शांति अथवा युद्ध की अवस्था की धारणा हो सके, मनुष्य प्रकृति से शत्रु नहीं हो सकता। यथार्थ में युद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध का परिणाम है, मनुष्यों के सम्बन्ध का नहीं, और क्योंकि युद्धावस्था साधारण वैयक्तिक सम्बन्धों से उत्पन्न नहीं हो सकती बल्कि वास्तविक सम्बन्धों से ही उत्पन्न होती है, इसलिए वैयक्तिक युद्ध अर्थात् मनुष्य और मनुष्य के बीच युद्ध, प्राकृतिक अवस्था में विद्यमान नहीं हो सका जहाँ कि स्थापित स्वामित्व ही नहीं है; और न ही यह सामाजिक अवस्था में विद्यमान हो सकता है जहाँ समस्त वस्तुएँ वैधानिक प्रभुत्व के अधीन होती हैं।

वैयक्तिक संयोधन, द्वन्द्व और मुठभेड़ यह ऐसी क्रियाएँ हैं जो युद्धावस्था को निर्मित नहीं करतीं और फ्रांस के राजा लूई नवम के प्रशासन द्वारा प्राधिकृत वैयक्तिक युद्ध जिनका अंत "ईश्वरीय शांति" द्वारा हुआ था, सामंततंत्र के कुपरिणाम मात्र थे। यह हास्यास्पद तन्त्र प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांतों और स्वस्थ प्रशासन के सर्वथा प्रतिकूल होता है।

युद्ध व्यक्ति और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं होता परंतु राज्य और राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध होता है, जिसमें व्यक्ति तो दैवयोग से ही शत्रु बन जाते हैं, मनुष्य होने के नाते नहीं, ना ही नागरिक होने के नाते[1] परंतु सैनिकों के रूप में, स्वदेश

१ रोम के लोगों ने, जो युद्ध के अधिकारों का विश्व के किसी अन्य राष्ट्र की अपेक्षा अधिक उपबोध और आदर करते थे, इस विषय में अपने विवेक का इस सीमा तक पालन किया, कि किसी नागरिक को स्वयंसेवक के रूप में युद्ध करने की आज्ञा तब तक नहीं दी जाती थी जबतक वह शत्रु के विरुद्ध अभिव्यक्त रूप से भरती न हो और किसी विशिष्ट शत्रु के नाम का उल्लेख न करें। जब पॉपीलियस के नेतृत्व का एक दस्ता जिसमें कैटो का पुत्र सबसे प्रथम सम्मिलित हुआ, पुनर्संगठन होने के कारण कैटो के पिता पॉपीलियस ने यह लिखा कि यदि वह अपने पुत्र को दस्ते में सम्मिलित रखने को तैयार हो तो पुत्र

के सदस्यों के रूप में नहीं, इसके रक्षकों के रूप में। संक्षेप में किसी एक राज्य के दूसरे राज्य ही शत्रु हो सकते हैं, वैयक्तिक मनुष्य नहीं, क्योंकि भिन्न प्रकार की वस्तुओं में कोई वास्तविक संबंध स्थापित करना असम्भव होता है।

उपरोक्त सिद्धान्त सब युगों के स्थापित सिद्धांतों और सब संस्कृत देशों के अचल व्यवहार के निरंतर अनुकूल है। युद्ध का उद्घोषण शक्तियों के प्रति चेतावनी का द्योतक न होकर प्रजा के प्रति होता है। वह विदेशी, चाहे राजा हो अथवा कोई वैयक्तिक मनुष्य अथवा राष्ट्र, जो राजा के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित किये बिना प्रजा को लूटे, मारे, अथवा बंदी करे, शत्रु नहीं बल्कि लुटेरा कहलाता है। उद्घोषित युद्ध तक में न्यायी राजक शत्रु देश में राज्य से युक्त समस्त वस्तुओं को धारण करता है, परंतु व्यक्तियों की देह और सम्पत्ति का आदर करता है। वह उन अधिकारों का आदर करता है जिस पर उसके अपने अधिकार आधारित होते हैं। युद्ध का उद्देश्य शत्रु-राज्य का विनाश होने के कारण, हमारा यह अधिकार है कि उस शत्रु-राज्य के रक्षकों का जब तक उनके हाथ में हथियार है, वध करते रहें, परंतु ज्योंही वे अपने हथियारों को छोड़ देते हैं और आत्मसमर्पण कर देते हैं और शत्रु अथवा शत्रु का साधन नहीं रहते, तो वे सामान्य मनुष्य हो जाते हैं और उनके जीवन पर किसी का अधिकार नहीं रहता। कई बार राज्य के किसी सदस्य को मारे बिना ही राज्य को विनष्ट करना सम्भव होता है। परंतु युद्ध कोई ऐसे अधिकार प्रदान नहीं करता जो इसकी उद्देश्य प्राप्ति के लिए आवश्यक न हों। उपरोक्त सिद्धांत ग्रोशस के नहीं हैं। यह कवियों के कथन पर आधारित नहीं हैं, यह तो वस्तुओं की स्थिति से प्रार्षित हैं और युक्ति पर आधारित हैं।

के लिए यह आवश्यक होगा कि वह अब नयी सैनिक शपथ ले क्योंकि पहली शपथ अभिशून्य हो जाने के कारण उसे शत्रु के विरुद्ध लड़ाई करने का अधिकार नहीं रह गया है और कैटो ने अपने पुत्र को लिखा कि बिना एक नयी शपथ ग्रहण किये उसे युद्धमें सम्मिलित नहीं होना चाहिए। मैं यह जानता हूँ कि मेरे विरुद्ध क्लूजियम का घेरा और कुछ और विशिष्ट उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु मैं तो नियमों और रूढ़ियों का उल्लेख करता हूँ। किसी राष्ट्र ने भी अपने नियमों का उल्लंघन इतना कम नहीं किया है जितना कि रोम के लोगों ने, और किसी अन्य राष्ट्र के नियम इतने प्रशंसनीय नहीं हुए हैं। (१७८२ के संस्करण में)

विजय के अधिकार का शक्तिशालीतम के नियम के अतिरिक्त कोई और आधार नहीं होता। यदि युद्ध विजेता को विजित का वध करने का अधिकार नहीं देता, तो यह अधिकार जो उसे प्राप्त ही नहीं है, उन्हें दास बनाने के अधिकार का आधार नहीं हो सकता। हमें किसी शत्रु के मारने का अधिकार तभी प्राप्त होता है, जब उसे दास बनाना असम्भव सिद्ध हो, तो दास बनाने के अधिकार को मारने के अधिकार से आकर्षित नहीं माना जा सकता। इसलिए यह अन्यायपूर्ण व्यापार है कि किसी व्यक्ति को अपना जीवन, जिस पर विजेता को कोई अधिकार ही नहीं है, अपनी स्वतंत्रता खोकर क्रय करना पड़े। जीवन और मरण के अधिकार को दासत्व के अधिकार पर अवलम्बित करने और दासत्व के अधिकार को जीवन और मरण पर अवलम्बित करने में, क्या यह स्पष्ट नहीं है कि, हम एक दुष्ट चक्र में तर्क कर रहे हैं ?

यदि हम सबको मारने के इस भयानक अधिकार को मान भी लें तो मेरा यह तर्क है कि युद्ध में बनाये हुए दास अथवा विजित राष्ट्र का स्वामी के प्रति कोई कर्तव्य नहीं होता, अतिरिक्त इसके कि वह उसका आज्ञापालन करे, जब तक ऐसा करने को बाध्य हो। जीवन के समान वस्तु लेकर उसका जीवन प्रदान करते हुए विजेता दास पर कोई कृपा नहीं करता है, उसका बेकार वध करने के बजाय वह अपने लाभ के लिए उसके व्यक्तित्व को विनष्ट कर देता है। इसलिए शासित द्वारा प्रदत्त प्रभुत्व के अतिरिक्त उस पर कोई अधिकार प्राप्त न कर सकने से उन दोनों में पूर्ववत् युद्ध की अवस्था निर्वाहित रहती है, यहाँ तक कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी इसी अवस्था का फल है और युद्ध के अधिकारों के प्रयोग से यह अनुमान नहीं होता है कि उनमें शांति स्थापन का कोई बंधक हुआ। उन्होंने केवल एक रूढ़ि स्थापित की है जो वास्तव में युद्धावस्था की समाप्ति की अपेक्षा इसके अविराम का ही द्योतक है।

इस प्रकार, हम वस्तुओं का किसी प्रकार अवलोकन करें, यह सिद्ध है कि दासत्व का अधिकार विधिहीन है, न केवल इसलिए कि यह अन्यायपूर्ण है, बल्कि इसलिए भी कि यह हास्यास्पद और निरर्थक है। यह दोनों शब्द—दासत्व और अधिकार असंगत हैं और परस्पर में अपवर्जी हैं। निम्नांकित कथन, चाहे वह किसी एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य को अथवा किसी मनुष्य द्वारा किसी राष्ट्र को सम्बोधित किया जाय, निरंतर सामान्य रूप से मूर्खतापूर्ण ही विदित होगा, "मैं तुमसे बंधक करता हूँ जो सर्वथा तुमको क्षति और मुझे लाभदायक होगा, और मैं इस बंधन को तब तक मानूँगा जबतक मैं चाहूँगा परंतु तुम्हें इसे मेरी इच्छापर्यंत मानना पड़ेगा।"

परिच्छेद ५

क्यों एक सर्वप्रथम प्रसभा को मानना आवश्यक है ?

यदि मैं उस सबको, जिसका अभी तक खंडन किया है, मान भी लूँ, तो भी एकाधिकार का अनुमोदन करनेवालों की युक्ति सिद्ध नहीं होती। जनसमूह को पराजित करने और समाज पर शासन करने में सदा एक महान अन्तर रहता है। जब अलग-अलग मनुष्य, चाहे उनकी संख्या कितनी ही बड़ी हो, एक दूसरे के अनन्तर किसी एक व्यक्ति के अधीन होते हैं, तो मेरी दृष्टि में वह स्वामी और दास की, न कि राष्ट्र और उसके राजक की, अवस्था होती है, उन द्वारा, यदि आप ऐसा कहना चाहें तो समुदाय का निर्माण होता है, संस्था का नहीं, क्योंकि उनकी न सामान्य सम्पत्ति होती है और न कोई राजनीतिक निकाय। यदि ऐसा मनुष्य आधे विश्व को भी अपने अधीन कर ले तो भी वह एक व्यक्ति ही रहता है। अन्य लोगों के हित से भिन्न उसका हित वैयक्तिक ही रहता है। यदि वह मनुष्य मर जाता है तो उसके बाद उसका साम्राज्य अग्नि से प्रज्वलित ओक की तरह बिखर जाता है और लुप्त हो जाता है।

ग्रोशस का कथन है कि राष्ट्र अपने आपको राजा के सुपुर्द कर सकता है अर्थात् ग्रोशस के मतानुसार, निज को राजा के सुपुर्द करने के पूर्व ही राष्ट्र राष्ट्रपद को प्राप्त हुआ होता है। सुपुर्दगी की क्रिया एक सामाजिक क्रिया है जिसे न्यायसंगत बनाने के लिए सर्वसाधारण का संकल्प आवश्यक है। इसलिए जिस क्रिया द्वारा राष्ट्र राजा को निर्वाचित करता है उसका परिनिरीक्षण करने से पहले, उस क्रिया का परिनिरीक्षण करना उचित होगा, जिसके द्वारा राष्ट्र राष्ट्र बना होगा, क्योंकि दूसरी क्रिया से पूर्वगामी होने के कारण यही वह क्रिया है जो समाज का वास्तविक आधार है।

वास्तव में यदि कोई पूर्वगत प्रसभा न हुई हो तो (सर्वसम्मत निर्वाचन की अवस्था के अतिरिक्त) अल्पसंख्यक पक्षों को बहुसंख्या के निर्णय को स्वीकार करना क्योंकर

बंध्य होगा। उन सैकड़ों का जो किसी शासक को चाहते हैं उन दसों की ओर से जो शासन को नहीं चाहते, मत निर्दिष्ट करने का क्या अधिकार होगा ? मतों की अनेकता का सिद्धांत स्वतः ही रूढ़ि पर आधारित है और परिकल्पित करता है कि कम से कम एक बार पहले सर्वसम्मति हुई होगी।

परिच्छेद ६

सामाजिक बन्ध

मैं कल्पित करता हूँ कि मनुष्य उस प्रक्रम पर पहुँच चुके हैं जहाँ प्राकृतिक अवस्था में परिरक्षण को संकट में डालनेवाली बाधाएँ उनके उस ओज को पराजित कर चुकी हैं जो प्रत्येक व्यक्ति उस अवस्था में अपने आपको संधारण करने के लिए कर सकता था। उपरोक्त दशा में यह आद्य स्थिति निर्वाहित नहीं रह सकती, और मानव जाति के अपने जीवन की रीति को परिवर्तित किये बिना विनष्ट हो जाने की आशंका उत्पन्न हो जाती है।

क्योंकि मनुष्य के लिए किसी निरंतर नये ओज को उत्पादित करना असम्भव होता है, परंतु विद्यमान सामर्थ्यों को संगठित और निर्दिष्ट करना ही सम्भाव्य है, इसलिए वे अपने परिरक्षण के लिए अभिसमूहित होकर सामर्थ्यों का एक योग स्थापित करने के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं अपना सकते। ऐसा करने से अविभक्त प्रेरक शक्ति तथा सम्मिलित प्रक्रिया द्वारा बाधाओं को विजित करने की सम्भावना होती है।

सामर्थ्यों का यह योग अनेक के सम्मिलन से ही उत्पादित हो सकता है, परंतु प्रत्येक मनुष्य का बल और स्वातंत्र्य उसके अपने परिरक्षण का मुख्य साधन होने के कारण वह इस बल और स्वातंत्र्य को, अपनी निजी क्षति किये बिना तथा अपने प्रति जो उसे अवधान करना आवश्यक है उसकी अपेक्षा किये बिना, कैसे बंधक कर सकता है? मेरे विषय के संदर्भ में इस कठिनाई को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है कि "साहचर्य का ऐसा रूप निकाला जाय जो प्रत्येक सहचारी की देह और सम्पत्ति का परिरक्षण और संरक्षण समुदाय की सम्पूर्ण सामर्थ्य द्वारा कर सके, और जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति समस्त दूसरों से एकीभूत होकर भी केवल अपनी ही आज्ञा का अनुपालन करे और पूर्ववत् स्वतंत्र रह सके।" यह वह आधारभूत समस्या है जिसका सामाजिक पाषण समाधान उपस्कृत करता है।

इस सामाजिक पाषण के खंड क्रिया के स्वभाव के अन्तर्गत इस प्रकार निश्चित होते हैं कि यदि उनमें तनिक भी सम्परिवर्तन हो जाय तो वे निरर्थक और प्रभावरहित हो जाते हैं, जिसका अर्थ है कि यद्यपि वे कभी यथारूप उच्चारित नहीं हुए हैं तो भी वे सर्वत्र समान हैं और सर्वत्र चुपचाप स्वीकृत और मानित होते हैं, जब तक कि सामाजिक बंध अतिक्रमित हो जाने के परिणामस्वरूप प्रत्येक मनुष्य अपने आद्य अधिकारों और उस प्राकृतिक स्वातंत्र्य को पुनः प्राप्त नहीं कर लेता जिसका परित्याग उसने रूढ़िगत स्वतंत्रता को अवाप्त करने के लिये किया था।

यदि ठीक अर्थ समझ लिया जाय तो इन सब खंडों को केवल एक वाक्यांश में प्रदर्शित किया जा सकता है और वह यह है कि प्रत्येक सहचारी समस्त समुदाय को अपने समस्त अधिकार पूर्णरूपेण अन्यक्रामित कर देता है क्योंकि प्रथमतः प्रत्येक स्वतः को पूर्णरूपेण अनुवर्तित कर देता है इसलिये प्रतिबंध सबके लिये समान होते हैं, तथा तदनंतर चूँकि प्रतिबंध सबके लिये समान हैं इसलिये कोई भी उन प्रतिबंधों को अन्यों के प्रति कष्टकारक बनाने में अभिरुचि नहीं रखता।

अपरंच, अन्यक्रामण पूर्णतया होने के कारण सम्मिलन भी संपूर्णतया होता है और कोई सहचारी पृथक् अधिकार उपस्थित नहीं कर सकता। क्योंकि यदि व्यक्तियों के पृथक् वैयक्तिक अधिकार रहने दिये जायँ तो किसी ऐसे सर्वनिष्ट वरिष्टाधिकारी के अभाव में जो किसी व्यक्ति विशेष और साधारण जनता के बीच निर्णय करने की शक्ति रखता हो, प्रत्येक व्यक्ति ही किसी न किसी बिन्दु पर अपना निर्णायक होता और सब अधिकारों पर निर्णायक होने का मिथ्या दम्भ कर सकता। परिणाम यह होता कि प्राकृतिक अवस्था निर्वाहित रहती और साहचर्य या तो अत्याचारी हो जाता या निरर्थक हो जाता।

संक्षेप में, प्रत्येक के अपने आपको सबको देने का अर्थ यह होता है कि प्रत्येक अपने आपको किसी को नहीं देता। और चूंकि ऐसा कोई सहचारी नहीं रहता जिस पर हम वही अधिकार अवाप्त नहीं कर लेते, जो हम उसको अपने आप पर देने को राजी होते हैं, इसलिये हम जो खोते हैं उसी के समान प्राप्ति कर लेते हैं और अपनी सम्पत्ति को संरक्षित रखने की अतिरिक्त शक्ति अवाप्त कर लेते हैं।

इसलिये यदि हम सामाजिक पाषण के सार को उसके उपांगों से पृथक् कर दें तो हम देखेंगे कि उसे निम्न शब्दों में प्रदर्शित किया जा सकता है "हममें से प्रत्येक अपनी देह और अपनी समस्त शक्ति को सर्वसाधारण प्रेरणा के वरिष्ट निर्देशन के अन्तर्गत सामान्य में डाल देता है और उसके बदले में हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण के एक अभाज्य अंग के रूप में प्राप्त कर लेते हैं।"

तुरन्त ही सब पाषित होनेवाले व्यक्तियों को अलग अलग व्यक्तित्व के स्थान पर इस साहचर्य क्रिया द्वारा एक नैतिक और समूह्य निकाय उत्पन्न हो जाती है जिसके वे सब अंग बन जाते हैं और इसी क्रिया द्वारा अपनी एकता, अपनी सामान्य आत्मा, अपने जीवन और अपनी प्रेरणा को प्रतिग्रहण कर लेते हैं। इस सार्वजनिक व्यक्तित्व का नाम जो सब वैयक्तिक सदस्यों के सम्मिलन से इस प्रकार निर्मित होता है पूर्व में नगर[1] होता था और अब गणराज्य अथवा राजनीतिक निकाय है। निष्क्रिय रूप में इसके सदस्य इसे राज्य कहते हैं और सक्रिय रूप में सार्वभौमिक सत्ता कहते हैं। जब इसी के समान दूसरे निकायों से इसकी उपमा दी जाती है तो इसे शक्ति कहते हैं। इसका निर्माण करनेवाले सहचारी सार्वभौमिक सत्ता में साझी होकर सामूहिक रूप में राष्ट्र और वैयक्तिक रूप में नागरिक कहलाते हैं। बहुधा उपरोक्त शब्द परस्पर सम्भ्रमिक होते हैं और एक दूसरे के हेतु प्रयुक्त कर दिये जाते हैं। यह जानना काफी है कि जब उन्हें सुतथ्यता से प्रयुक्त किया गया हो तो उनमें कैसे भेद किया जायगा।

१ इस शब्द का वास्तविक अर्थ आधुनिक युग में बिलकुल ही भुला दिया गया है। बहुधा नगर को शहर समझा जाता है और नागरिक को नगरवासी। लोग नहीं समझते कि शहर भवनों से बनता है परन्तु नगर नागरिकों से। इसी भूल के कारण कार्थेज निवासियों को बहुत क्षति उठानी पड़ी थी। मैंने कभी भी किसी राजक की प्रजा को नागरिक की उपाधि दी गयी हो ऐसा नहीं पढ़ा, न तो प्राचीन समय में यह मेसेडोनिया के लिये दी गयी, न वर्तमान समय में यह अंग्रेजों को दी जाती है। चाहे वह दूसरों की अपेक्षा स्वतंत्रता का अधिक उपभोग करते हैं। केवल फ्रांसीसी लोग ही शब्द नागरिक को सपरिचय प्रयुक्त करते हैं, क्योंकि उन्हें इसकी सही कल्पना नहीं है। यह तथ्य उनके भाषाकोषों से स्पष्ट विदित होता है। यदि सही कल्पना होते हुए वे उस शब्द का दुष्प्रयोग करते तो हम उन्हें अत्यंत अभिद्रोह का दोषी ठहरा सकते थे। फ्रांसीसियों में यह शब्द गुण को व्यक्त करता है, अधिकार को नहीं। जब बोदा (Bodin) ने हमारे नागरिकों और नगरनिवासियों का विवरण देना चाहा तो उसने शब्दों के प्रयोग में एक बड़ी गलती कर दी, क्योंकि एक शब्द को दूसरे के लिए प्रयुक्त कर दिया। ऐलम्बर्ट ने इस सम्बन्ध में गलती नहीं की है और अपने लेख जेनेवा में उसने हमारे नगर में विद्यमान मनुष्यों की चार श्रेणियों (पांच कहना होगा यदि विदेशियों को भी गिना जाय) में स्पष्ट भेद किया है, जिनमें केवल दो ही गणराज्य के अंग माने जाते हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है दूसरे किसी फ्रांसीसी लेखक ने शब्द नागरिक का सही अर्थ नहीं समझा।

परिच्छेद ७

सार्वभौमिक सत्ताधिकारी

उपरोक्त सूत्र से स्पष्ट होगा कि साहचर्य की क्रिया में सर्वसाधारण जनता और व्यक्ति के बीच एक अन्यान्य अभियुक्ति होती है तथा प्रत्येक व्यक्ति जो इस प्रकार यथार्थ में अपने ही से बंध करता है एक द्विपक्षीय संबंध में अभियुक्त हो जाता है, अर्थात् सार्वभौमिक सत्ता के सदस्य के रूप में अन्य व्यक्तियों के प्रति और राज्य के सदस्य के रूप में सार्वभौमिक सत्ताधिकारी के प्रति। इस प्रकरण में हम व्यवहार विधि का वह सिद्धांत लागू नहीं कर सकते कि कोई व्यक्ति अपने ही से की हुई अभियुक्ति से बद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं अपने से अभियुक्ति करने में और एक ऐसी संपूर्ण इकाई से अभियुक्ति करने में, जिसका स्वयं वह एक अंश हो, बहुत अंतर होता है।

साथ ही यह अवलोकन करना भी आवश्यक है कि सर्वसाधारण का संकल्प जो समस्त जनता को सार्वभौमिक सत्ता के प्रति उपरोक्त द्विपक्षीय सम्बन्ध में, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक का निरूपण होता है, सम्बद्ध कर सकता है। किन्तु प्रतिकूल कारणवश सार्वभौमिक सत्ता को स्वतः अपने ही प्रति बद्ध नहीं कर सकता, और परिणामस्वरूप यह राजनीतिक निकाय के स्वभाव के प्रतिकूल होगा कि सार्वभौमिक सत्ता अपने पर ही किसी ऐसे विधान को लागू करे जिसका उल्लंघन कर सकना उसे वर्जित हो। चूँकि सार्वभौमिक सत्ता को केवल किसी एक ही सम्बन्ध के अंतर्गत निरूपित किया जा सकता है, अतः इसकी स्थिति भी उस व्यक्ति के सदृश ही होती है जो अपने साथ ही बंध कर रहा हो। उपरोक्त सबसे यह स्पष्ट है कि समस्त जनपदीय निकाय पर न कोई आधारभूत नियम और न कोई सामाजिक पाषण ही बाध्य होता अथवा हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह निकाय किसी अन्य से औचित्य के अंतर्गत कोई ऐसी अभियुक्तियाँ नहीं कर सकता जिनका परिणाम पाषण का अल्पीकरण होगा क्योंकि

विदेशियों के सम्बन्ध में तो यह निकाय एक सामान्य जीव अर्थात् स्वयं एक व्यक्ति हो जाता है।

परंतु राजनीतिक निकाय अथवा सार्वभौमिक सत्ता केवल पापण की पवित्रता से अपना अस्तित्व प्राप्त करने के कारण, कभी अपने आपको अन्यों के प्रति किसी ऐसी अभियुक्ति द्वारा बाध्य नहीं कर सकता जिससे आद्य क्रिया का अल्पीकरण होता हो, उदाहरणार्थ अपने किसी क्षेत्र को अन्यक्रामिक कर देना, अथवा किसी अन्य सार्वभौमिक सत्ताधिकारी की अधीनता स्वीकार कर लेना। जिस क्रिया के अन्तर्गत इसका अस्तित्व स्थापित होता है उस क्रिया का अतिक्रमण करने का अर्थ यह होगा कि इसका अपना अस्तित्व मिट जायगा और जो स्वयं शून्य है वह किसी निश्चित वस्तु को उत्पादित नहीं कर सकता।

इसलिये ज्योंही जनसमुदाय किसी एक निकाय में संगठित हो जाता है तो किसी एक सदस्य को निकाय पर आक्रमण किये बिना क्षति पहुँचाना असम्भव हो जाता है। इसी प्रकार निकाय को पहुँचाई हुई क्षति का प्रभाव उसके सदस्य अनुभव न करें यह असम्भव हो जाता है। इस प्रकार कर्तव्य और हित दोनों बंध करनेवाले पक्षों को बाध्य करते हैं कि वे पारस्परिक सहायता प्रदान करें, और मनुष्यों को भी इस द्विपक्षीय सम्बन्ध के अन्तर्गत उन समस्त लाभों को प्राप्त करने की जो इससे उत्पन्न हो सकते हैं, चेष्टा करनी चाहिये।

सार्वभौमिक सत्ता केवल उन्हीं व्यक्तियों द्वारा निर्मित होने के कारण जो इसके अंग हैं, उन व्यक्तियों के हित के प्रतिकूल न कोई हित रखती है और न रख सकती है। परिणामस्वरूप सार्वभौमिक सत्ता को अपने सदस्यों के प्रति किसी प्रत्याभूति की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह असम्भव है कि निकाय अपने समस्त अंगों को क्षति पहुँचाने की अभिलाषा करे और हम आगे चलकर देखेंगे कि सार्वभौमिक सत्ता किसी को भी व्यक्तिगत रूप में क्षति नहीं पहुँचा सकती। सार्वभौमिक सत्ता सार्वभौमिक सत्ता होने के कारण ही उन समस्त गुणों से युक्त है, जो इसमें होने चाहिये।

परन्तु प्रजा की, सार्वभौमिक सत्ता के प्रति यही अवस्था नहीं होती, क्योंकि सामान्य हित होते हुए भी यह निश्चय नहीं हो सकता कि प्रजा अपनी अभियुक्तियों का पालन करेगी, जब तक कि सार्वभौमिक सत्ता प्रजा की राजभक्ति को सुनिश्चित करने के साधन स्थापित न कर दे।

यथार्थ में यह सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य के रूप में अपनी विशिष्ट प्रेरणा रखे जो उस सर्वधारण प्रेरणा से, जो नागरिक के रूप में उसकी होती है, प्रतिकूल अथवा विभिन्न हो। उसका वैयक्तिक हित सामान्य हित के बिल्कुल विपरीत उसे प्रेरित कर सकता है। उसका अस्तित्व पूर्ण और प्राकृतिक तौर पर स्वतंत्र होने के कारण उसकी यह धारणा बन सकती है कि जो उस द्वारा सामान्य निमित्त को देय है वह एक निःशुल्क अंशदान है। उसका लुप्त हो जाना दूसरों को उतना हानिकारक नहीं होगा जितना कि उसका शोधन उसके अपने लिये कष्टकारक होता है। जिस नैतिक व्यक्तित्व से राज्य का निर्माण होता है उसे एक काल्पनिक प्राण समझ कर वह प्रजा का कर्तव्य निभाने का इच्छुक न होते हुए भी नागरिक के अधिकारों का उपभोग करने को उद्यत हो सकता है। इस अन्याय की प्रगति राजनीतिक निकाय के विनाश का कारण बन सकती है।

अतः इस हेतु कि सामाजिक पायण केवल सारहीन सूत्र न रह जाय, इसमें प्रत्यक्ष उल्लिखित हुए बिना यह अभियुक्ति निहित होती है और यथार्थ में इसी अभियुक्ति के कारण दूसरों को बल मिलता है कि जो कोई सर्वसाधारण की प्रेरणा की आज्ञा से विमुख होगा उसे आज्ञापालन को बाध्य करने के लिये समस्त निकाय का बल प्रयुक्त किया जायगा, जिसका अर्थ केवल इतना है कि उसे स्वतंत्र रहने को बाध्य किया जायगा; क्योंकि यही वह प्रतिबन्ध है, जो प्रत्येक नागरिक अपनी जन्मभूमि से सम्बद्ध होते हुए भी किसी अन्य कीअधीनता से मुक्त होने की प्रत्याभूति करता है, राजनीतिक यंत्र के नियंत्रण और कर्मकरण को सुनिश्चित करता है और जो सामाजिक अभियुक्तियों को न्यायसंगत बनाता है। इसके बिना विसंगत, अत्याचारपूर्ण और सब प्रकार के दुरुपयोगों से परिपूर्ण होती है।

परिच्छेद ८

सामाजिक अवस्था

प्राकृतिक अवस्था से सामाजिक अवस्था में गमन मनुष्य के आचार में अंतःज्ञान के स्थान पर न्याय धारणा प्रतिष्ठापित करके उसके आचरण को वह नैतिक गुण प्रदान करके जिससे यह पूर्व में विहीन था, एक भारी परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। जब भौतिक प्रेरणा के स्थान पर कर्तव्य के आह्वान की उत्पत्ति हो जाती है और अभिलाषा के स्थान पर विधान की स्थापना हो जाती है, मनुष्य, जिसका ध्यान तब तक केवल निज पर ही केन्द्रित होता था, केवल तभी यह अनुभव करने लगता है कि वह अन्य सिद्धांतों पर कार्य करने और अपनी अभिलाषाओं पर कार्यशील होने से पहिले अपने तर्क की सम्मति लेने को बाध्य है। यद्यपि इस अवस्था में वह अनेक लाभों से वंचित हो जाता है जो उसे प्रकृति से प्राप्त होते थे, तथापि उनके बदले वह कई समान महान् लाभों को अवाप्त कर लेता है। उसकी शक्तियों का अनुष्ठान होने लगता है और वे उन्नत हो जाती हैं, उसके विचार विस्तृत हो जाते हैं, उसकी भावनायें श्रेष्ठ हो जाती हैं, उसकी समस्त आत्मा उस सीमा तक पराकृष्ट हो जाती है कि यदि इस नई अवस्था के दोष उसे बहुधा उस तल से भी नीचे न गिरा दें जिससे वह उठा है तो उसे निरंतर उस आनंददायक घड़ी का गुणगान करना आवश्यक होगा जिसने उसे सदा के लिये उस तल से मुक्त करा दिया और एक मूर्ख और अनभिज्ञ पशु से एक बुद्धिशाली जीव——मनुष्य बना दिया।

अब हमें उपरोक्त समस्त मापदंड को इस प्रकार विभक्त कर देना चाहिये कि उनकी तुलना सुगमतापूर्वक हो सके। जो कुछ मनुष्य सामाजिक पाषण से खोता है वह है प्राकृतिक स्वातन्त्र्य और उस समस्त पर जिसका वह इच्छुक हो और जिसे प्राप्त करने का सशक्त असीमित अधिकार वह अवाप्त करता है, वह है सामाजिक स्वातन्त्र्य और अपने समस्त धारणों पर सम्पत्ति अधिकार। हमें इन प्रतिफलों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की गलती

न हो इसलिये यह आवश्यक है कि हम प्राकृतिक स्वातंत्र्य, जिसकी सीमा की परिधि व्यक्ति की शक्ति होती है, और सामाजिक स्वातंत्र्य जिसकी सीमा में सर्वसाधारण की प्रेरणा से निर्धारित होती है, और इसी प्रकार धारणाधिकार, जो बल के फल और प्रथम आभोग का अधिकार मात्र होता है, और सम्पत्ति अधिकार जो एक स्थित स्वप्न पर आधारित होता है, में स्पष्ट अंतर करें।

उपरोक्त के अतिरिक्त, हम सामाजिक अवस्था की प्राप्तियों की सूची में नैतिक स्वातंत्र्य भी सम्मिलित कर सकते हैं जिसके फलस्वरूप ही मनुष्य सत्य रूप में निज का स्वामी होता है, क्योंकि आकस्मिक अभिलाषाओं की प्रेरणा का नाम दासत्व है और स्वतः निर्धारित विधान के अनुपालन का नाम स्वतंत्रता है। परंतु इस बारे में पहले ही अत्यधिक कह चुका हूँ और शब्द 'स्वतंत्रता' के दार्शनिक अर्थ का विश्लेषण मेरे वर्तमान विषय से सम्बन्धित नहीं है।

परिच्छेद ६

वास्तविक सम्पत्ति

समाज का प्रत्येक सदस्य समाज के निर्माण होते ही अपने आपको अपने वास्तविक रूप में, अर्थात् अपने आपको और अपनी समस्त शक्तियों को, जिनका कि उस द्वारा धारण की हुई सम्पत्ति एक खंड होता है, समाज को समर्पित कर देता है। इस विनिमय क्रिया द्वारा धारणाधिकार की प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता केवल सार्वभौमिक सत्ता को हस्तान्तरित हो जाने से यह सम्पत्ति बन जाता है। परन्तु यथा राज्य की शक्तियाँ व्यक्ति की शक्तियों से अतुलनीय अधिक होती हैं उसी तरह सार्वजनिक धारणाधिकार अधिक न्यायसंगत हुए बिना भी यथार्थ में, कम से कम जहाँ तक विदेशियों का सम्बन्ध है, अधिक परिरक्षित और अधिक अखंडनीय हो जाता है, क्योंकि अपने सदस्यों के प्रति तो राज्य, सामाजिक पाषण के अन्तर्गत ही (जो राज्य में सब अधिकारों का आधारभूत होता है), नागरिकों की समस्त सम्पत्ति का स्वामी बन जाता है। परन्तु अन्य शक्तियों के प्रति केवल व्यक्तियों से अवाप्त प्रथम उपभोग के अधिकार के बलपर ही यह स्वामी मान्य नहीं किया जा सकता।

प्रथम आभोग का अधिकार, चाहे यह शक्तिशालीतम के अधिकार से अधिक वास्तविक हो, केवल सम्पत्ति के स्थापन के अनंतर ही सत्वाधिकार का रूप धारण करता है। प्रत्येक मनुष्य का प्रकृति से ही उस समस्त में अधिकार होता है जो उसके लिये आवश्यक हो, परंतु वह निश्चित क्रिया जो उसे किसी सम्पत्ति-विशेष का स्वत्वाधिकारी बनाती है वही क्रिया उसे समस्त अविशिष्ट धारणों से अपवर्जित कर देती है। उसका अपना भाग आवंटित हो जाने के कारण उसके लिये अपने आपको उसी तक सीमित रखना वांछनीय हो जाता है और उस अविभक्त सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रहता। यही कारण है कि प्रथम आभोग का अधिकार जो प्राकृतिक अवस्था में बहुत क्षीण माना जाता था राज्य के प्रत्येक सदस्य द्वारा सम्मानित किया जाता है। इस

अधिकार के अन्तर्गत मनुष्य इस बात का कम ध्यान रखते हैं कि किसी अन्य की क्या-क्या वस्तु है। उनको अधिक इस बात का ध्यान रहता है कि कौन-सी वस्तु उनकी अपनी नहीं है ।

किसी क्षेत्र में प्रथम आभोग के अधिकार को न्यायसंगत बनाने के लिये साधारणतया निम्न शर्तें आवश्यक होती हैं। प्रथम यह कि भूमि किसी अन्य द्वारा पूर्व से ही वासित नहीं है। दूसरे यह कि मनुष्य केवल उसी क्षेत्र को धारण करे जिसकी उसे अपने निर्वाह के हेतु आवश्यकता है। तीसरे यह कि मनुष्य उस भूमि को केवल एक निरर्थक अनुष्ठान द्वारा नहीं बल्कि श्रम और कर्षण द्वारा धारण करे, क्योंकि वैधानिक स्वत्व के अभाव में यही एक धारणाधिकार का चिह्न है जिसे अन्य सम्मानित करेंगे ।

यथार्थ में यदि हम प्रथम आभोग के अधिकार को आवश्यकता और श्रम के अंतर्गत मान लेते हैं तो क्या हम इस अधिकार का क्षेत्र विस्तृततम नहीं कर देते ? क्या इस अधिकार की सीमा निर्धारित करना असम्भव है ? क्या केवल सामान्य भूमि पर पदार्पण ही इसके धारणाधिकार का स्वत्व प्रदान करने को पर्याप्त है ? क्या अन्य मनुष्यों को इस भूमि से तनिक काल के लिये हटा देने की शक्ति इसके लिये काफी है कि उनको इस पर लौटने के अधिकार से भी वंचित कर दिया जाय ? कोई मनुष्य अथवा राष्ट्र एक दंडनीय बलाधिकार के अतिरिक्त किसी विस्तृत क्षेत्र को धारण करने और शेष समस्त मानव जाति को इससे लुंठन करने का कैसे अधिकारी माना जा सकता है क्योंकि इस क्रिया से अन्य मनुष्य निवास तथा निर्वाह के स्थान से जो प्रकृति ने सबको सामान्य रूप से प्रदान किये हैं, वंचित हो जायेंगे । जब न्यूनेज बाल्बो ने केवल समुद्रतट पर टैस्टील के राज्य के नाम पर प्रशांत महासागर और समस्त दक्षिण अमेरिका का स्वत्व धारण कर लिया तो क्या यह क्रिया इस देश के समस्त निवासियों को स्वत्वहीन करने और विश्व के समस्त अन्य राजकों को इससे अपवर्जित करने को पर्याप्त थी ? उपरोक्त धारणा के आधार पर इस प्रकार के निरर्थक अनुष्ठान निरंतर पुनरावृत किये जा सकते थे और कैथोलिक राजा अपनी मंत्री-परिषद् की सहमति से केवल एक आघात से ही समस्त विश्व का स्वत्वाधिकार धारण कर सकता था परंतु ऐसा कर लेने के अनंतर उसे अपने साम्राज्य से वह भाग पृथक् करना पड़ता जो पूर्व से ही अन्य राजकों ने धारण कर लिया था।

हम जानते हैं कि व्यक्तियों की सम्मिलित और समीप स्थित भूमियाँ सार्वजनिक क्षेत्र बन जाती हैं और सार्वभौमिक सत्ता का अधिकार प्रजा द्वारा प्राप्त भूमि पर

विस्तृत होकर एक साथ वास्तविक और वैयक्तिक बन जाता है। इस क्रिया से भूमिदार राज्य पर और अधिक आश्रित हो जाते हैं और उनका स्वतः बल ही उनकी स्वामिभक्ति की प्रत्याभूति बन जाता है। यह एक ऐसा लाभ है जिसे पुरातन सम्राटों ने स्पष्ट रूप में नहीं समझा था, वे अपने आपको ईरानियों, सीथियों अथवा मैसेडोनियों के राजा कहलाते थे और अपने आपको लोगों के राजक समझते थे न कि देशों के स्वामी। वर्तमान के सम्राट् अधिक चतुरता से फ्रांस, स्पेन, इंग्लैण्ड आदि के राजा कहलाते हैं। भूमि को धारण करने के कारण वे इसके निबासियों को अपने अधीन रखने में सर्वथा निश्चित रहते हैं।

उपरोक्त अन्यक्रामण की यह विशेषता है कि व्यक्तियों की सम्पत्ति को धारण करके समाज उनको इससे लुंठित करने की अपेक्षा केवल उनके वैधानिक स्वत्व को प्रगोपित करता है तथा बलाधिकार को सत्याधिकार में और उपभोग को स्वत्वाधिकार में परिणत करता है। अपरंच, व्यक्तिगत सम्पत्तिधारकों के सार्वजनिक सम्पत्ति के प्रन्यासी मानित होने के कारण और उनके अधिकार राज्य के सब सदस्यों द्वारा सम्मानित होने और सब विदेशियों के प्रति राज्य की समस्त शक्ति द्वारा परिरक्षित होने के कारण (ऐसे संक्रमण के परिणामस्वरूप जो सर्वसाधारण को लाभदायक होता है और उससे भी अधिक लाभदायक उनको स्वतः होता है) ऐसा मानना चाहिये कि उन्होंने सब अपहरित सम्पत्ति को पुनः प्राप्त कर लिया है। एक ही सम्पत्ति पर सार्वभौमिक सत्ता और सम्पत्तिधारक के विभिन्न अधिकार होते हैं, इसका भेद स्पष्ट करके उपरोक्त विरोधाभास का सुगमतापूर्वक समाधान किया जा सकता है, जैसा कि हम आगे बतायेंगे।

यह भी सम्भव है कि मनुष्य सम्पत्ति को धारण करने के पहिले ही सम्मिलित हो जायँ और बाद में सबके लिये पर्याप्त भूमि धारण करके उसका सम्मिलित तौर पर उपभोग करें अथवा आपस में बराबर बराबर या सार्वभौमिक सत्ताधिकारी द्वारा निर्धारित अनुपात में विभाजन कर लें। यह अवाप्ति चाहे किसी रीति से हुई हो, यह स्पष्ट है कि जो अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निजी सम्पत्ति पर प्राप्त हैं वे सदा उन अधिकारों के अधीन होंगे जो समाज को सब पर प्राप्त हैं अन्यथा सामाजिक संगठन में कोई स्थायित्व ही नहीं रहेगा और सार्वभौमिक सत्ता के प्रयोग में कोई वास्तविक बल न रहेगा।

इस परिच्छेद और इस पुस्तक को मैं इस अभियुक्ति के साथ समाप्त करता हूँ: जो समस्त सामाजिक पद्धति का आधारभूत होना चाहिये, वह यह है कि प्राकृतिक समानता को विनष्ट करने की अपेक्षा, आधारभूत बंधन प्रकृति द्वारा आरोपित

भौतिक असमानता को नैतिक और नैयायिक समानता से प्रतिस्थापितकर देता है जिसके परिणामस्वरूप बल और बुद्धि में असमान होते हुए भी मनुष्य रूढ़ि और नैयायिक अधिकार द्वारा समान हो जाते हैं।[1]

१ कुशासनों में यह समानता केवल आभासी और मायावी होती है, और दीनों को अपनी दीनता में और सम्पन्नों को अपने बलाधिकार में स्थापित रखने का आधार बन जाती है। यथार्थ में विधान सदा उनके लिये लाभदायक होते हैं जो सम्पत्तिशाली हैं और उन्हें हानिकारक होते हैं जिनके पास कुछ नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि सामाजिक अवस्था मनुष्यों को उसी सीमा तक लाभदायक होती है जिस तक प्रत्येक के पास कुछ न कुछ सम्पत्ति हो परन्तु किसी एक के पास अत्यधिक नहीं हो।

पुस्तक २

परिच्छेद १

सार्वभौमिक सत्ता अनन्यक्राम्य है

ऊपर निर्धारित सिद्धांतों का प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह है कि सर्व-साधारण प्रेरणा ही राज्य बल को राज्य की संस्थाओं के प्रयोजनानुसार निर्दिष्ट कर सकती है, यह प्रयोजन सर्वकल्याण होता है। यदि समाज की स्थापना वैयक्तिक हितों के विरोध के कारण आवश्यक होती है तो उन्हीं हितों के सम्मिलन द्वारा सम्भाव्य भी होती है। जो इन उपरोक्त विभिन्न हितों में सामान्य होते हैं, वे ही सामाजिक बंध की आधारशिला बनते हैं और यदि सब हित किसी एक बिन्दु पर सम्मिलित न होते तो समाज का अस्तित्व हो ही नहीं सकता था। समाज का प्रशासन भी केवल इसी सम्मिलित हित के कारण ही चलता है।

इसलिये मैं कहता हूँ कि सार्वभौमिक सत्ता, जो सर्वसाधारण प्रेरणा के प्रयोग का ही दूसरा नाम है, कभी अन्यक्राम्य नहीं किया जा सका, और सार्वभौमिक शक्ति, जो एक समूह्य इकाई होती है, केवल अपने द्वारा ही प्रतिनिहित हो सकती है। शक्ति तो पारेषित हो भी सकती है, किंतु प्रेरणा कभी नहीं।

वास्तव में यदि यह असम्भव नहीं कि कोई विशिष्ट प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा के किसी विशिष्ट बिन्दु पर सम्मिलित हो सके तो यह अवश्य असम्भव है कि उपरोक्त सम्मिलन चिरस्थायी अथवा अपरिवर्ती हो; क्योंकि विशिष्ट प्रेरणा स्वभाव से ही अधिमान्यता की ओर प्रवृत्त होती है और सर्वसाधारण प्रेरणा समता की ओर। साथ ही यह सर्वथा असम्भव है कि उपरोक्त सम्मिलन प्रत्याभूत हो सके, क्योंकि यदि यह निरंतर अस्तित्व में रहे भी, तो वह केवल दैवयोग का फल होगा, किसी प्रयोजनात्मक क्रिया का नहीं। सार्वभौमिक शक्ति अवश्य कह सकती है कि "मेरी प्रेरणा अब वही है जो किसी विशिष्ट व्यक्ति की है या कम से कम जिसे कोई विशिष्ट व्यक्ति कहता है कि उसकी प्रेरणा है।" परंतु वह नहीं कह सकती कि "किसी विशिष्ट व्यक्ति की

जो कल प्रेरणा होगी मेरी प्रेरणा भी वही होगी क्योंकि कोई भी प्रेरणा प्रेरणा करनेवाले व्यक्ति के हित के प्रतिकूल सहमनन करने को बाधित नहीं की जा सकती। इसलिये यदि कोई राष्ट्र विवेकशून्यतः अनुवर्तन करने की प्रतिज्ञा कर ले तो वह इस क्रिया से ही अपने आपको विलयित कर देता है, अपने राष्ट्रत्व के गुण को खो डालता है। जिस क्षण वह किसी को स्वामी मान्य कर लेता है, वह सार्वभौमिक शक्ति नहीं रहता और इस प्रकार राजनीतिक निकाय विनष्ट हो जाता है।

उपरोक्त का यह अर्थ नहीं है कि राजकों के आदेश, जब कि सार्वभौमिक शक्ति विरोध करने का स्वातंत्र्य रखते हुए भी उन आदेशों का विरोध नहीं करती है सर्वसाधारण प्रेरणा के निर्णय न समझे जावें। इसी अवस्था में सार्वत्रिक मूकता से प्रजा का सहमनन अनुमानित किया जाना चाहिये। यह आगे चलकर सविस्तार स्पष्ट हो जावेगा।

परिच्छेद २

सार्वभौमिक सत्ता अभाज्य है

उसी कारण से जिससे सार्वभौमिक सत्ता अनन्यक्राम्य है, सार्वभौमिक सत्ता अभाज्य भी है। क्योंकि प्रेरणा या तो सर्वसाधारण होती है[१] या नहीं होती, अर्थात या तो यह प्रजा के समस्त निकाय की होती है या केवल एक भाग की। पहली दशा में उपरोक्त घोषित प्रेरणा सार्वभौमिक सत्ता की एक क्रिया और विधान की निर्माता होती है। दूसरी दशा में यह केवल एक विशिष्ट प्रेरणा अर्थात् दंडाधिकार की क्रिया होती है अथवा उत्कृष्टतम रूप में एक प्रादेश होती है।

परंतु हमारे राजनीतिक लेखक सार्वभौमिक सत्ता का सिद्धांत के आधार पर वर्गीकरण न कर प्रयोजन के आधार पर वर्गीकरण करते हैं, वे इसका वर्गीकरण शक्ति और प्रेरणा के रूप अर्थात् विधायी शक्ति और अधिशासी शक्ति के रूप में अथवा करारोपण, न्याय और युद्ध के अधिकारों के रूप में अथवा आंतरिक प्रशासन और विदेशियों से प्रतिपादन की शक्ति के रूप में करते हैं, कभी इन सब अंगों का सम्मिश्रण कर देते हैं और कभी उन्हें पृथक् कर देते हैं। वे सार्वभौमिक सत्ता को एक ऐसे काल्पनिक प्राणी का रूप दे देते हैं जो विभिन्न संबन्धित भागों का बना हुआ है। यूँ कहना चाहिये कि वे एक मनुष्य के अनेक अलग शरीर बना देते हैं, एक केवल आँखों सहित, दूसरा केवल भुजाओं सहित, तीसरा केवल पद सहित। परन्तु अन्य अंगों से विहीन। एक किंवदंती है कि जापान के मदारी दर्शकों के समक्ष बच्चों को काट-कर हिस्से कर दिया करते थे, तमाम अवयवों को ऊपर हवा में उछालकर वे बच्चों को

१ प्रेरणा के सर्वसाधारण होने के लिये यह सदैव अनिवार्य नहीं होता कि वह सर्वसम्मत हो, परन्तु यह आवश्यक होता है कि सब मतों की गणना हो, कोई भी यथारूप अपवर्जन सर्व साधारणता के तत्त्व को विनष्ट कर देता है।

जीवित और सर्वांगपूर्ण उतार लेते थे। हमारे राजनीतिक लेखकों के कौतुक भी इन मदारियों की भाँति ही हैं। मेलों में दिखानेयोग्य कौतुक द्वारा सामाजिक निकाय के अलग-अलग अंग करने के अनंतर ये इन अंगों को न जाने कैसे पुनः सम्मिलित कर देते हैं।

उपरोक्त विभ्रम सार्वभौमिक सत्ता के बारे में यथार्थ कल्पना न बनाने और उन वस्तुओं को सार्वभौमिक सत्ता का अंग मानने जिनका इससे केवल उद्‌गम होता है, के कारण उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, युद्ध घोषित करने और संधि करने की क्रियाओं को सार्वभौमिक सत्ता की क्रियाएँ मान लिया गया है, परन्तु वास्तव में यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह दोनों क्रियाएँ स्वयं विधान न होकर विधान शक्ति का प्रयोग मात्र हैं, अर्थात् विशिष्ट क्रियाएँ हैं जिनसे विधान की अवस्था का निर्माण होता है। यह बात और स्पष्ट हो जायगी जब हम शब्द 'विधान' का आधार स्थापित करेंगे।

अन्य वर्गों का इसी प्रकार निरूपण करने से यह पता चलेगा कि जब कभी भी सार्वभौमिक सत्ता विभाजित प्रतीत होती है तो हमारी कल्पना का ही भ्रम होता है, और जिन अधिकारों को हम उस सार्वभौमिक सत्ता का भाग मानते हैं वे सब उसके अधीन ही हैं और सदैव उन वरिष्ट प्रेरणाओं की कल्पना करते हैं जिनका ये अधिकार अधिशासी रूप मात्र हैं।

अपने निर्धारित सिद्धांतों के अन्तर्गत राजा और प्रजा के अन्यान्य अधिकारों का निर्णय करते समय राजनीतिक लेखकों के परिणाम, राजनीतिक अधिकारों के संबंध में सुतथ्यता की कमी के कारण कितने दुर्बोध हो गये हैं, इसका विवरण बिलकुल असम्भव है। ग्रोशस की पहली पुस्तक के तीसरे तथा चौथे परिच्छेद में कोई भी देख सकता है कि वह विद्वान् और उसके अनुवादक बाबेरेका अपने वाक्छलों में इस भय से कि वे कहीं अत्यधिक न कह डालें अथवा अपने सिद्धांतों के अनुसार पर्याप्त मात्रा में न कह सकें और उन हितों को अप्रसन्न कर दें जिन्हें प्रसन्न करना उनका उद्देश्य था, किस प्रकार उलझ गये तथा व्यग्र हो गये हैं। ग्रोशस ने, जिसने अपने देश से असंतुष्ट होकर फ्रांस में शरण ली थी और जो लुई त्रयोदश की जिसे उसने अपनी पुस्तक भी समर्पित की है, आराधना करना चाहता था, प्रजा को अपने समस्त अधिकारों से वंचित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी और अत्यन्त कुशलता से उन अधिकारों को राजाओं को प्रदान कर दिया। बाबेरेका, जिसने अपने अनुवाद को इंग्लैंड के राजा जॉर्ज प्रथम को

समर्पित किया है, झुकाव भी प्रत्यक्षतय: इसी ओर था। परंतु दुर्भाग्यवश जेम्स द्वितीय के देश निष्कासन के कारण, जिसे वह राज्य-त्यजन कहता है, वह संयत, अस्पष्ट और अपवंचित कथन करने को बाध्य हो गया ताकि विलियंम बलाधिकारी सिद्ध न हो जाय। यदि यह दोनों लेखक सत्य सिद्धांतों को अपनाते तो समस्त कठिनाइयाँ दूर हो सकती थीं और उनके लेख निरन्तर प्रभावशाली होते, परंतु उस दशा में उन्हें खेद सहित सत्य बोलना पड़ता और उन्हें प्रजा की ही आराधना करनी पड़ती। परन्तु सत्य लाभप्रद नहीं होता और प्रजा न दूत-पद न प्राध्यापक-पद और न ही निवृत्ति वेतन प्रदान कर सकती है।

परिच्छेद ३

क्या सर्वसाधारण प्रेरणा विभ्रमित हो सकती है ?

जो पहिले कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि सर्वसाधारण प्रेरणा सदा ठीक होती है और सदा सार्वजनिक हित की ओर प्रवृत्त होती है, परंतु यह अर्थ नहीं है कि प्रजा के संकल्पों में सदा वही सचाई होगी। व्यक्ति सदा अपना हित चाहता है, परंतु हमेशा विवेचन नहीं कर पाता। प्रजा कभी भ्रष्ट नहीं होती परंतु बहुधा धोखे में आ जाती है, और केवल उस दशा में उनकी प्रेरणा निंदित हो जाती है।

बहुधा सब व्यक्तियों की प्रेरणा और सर्वसाधारण प्रेरणा में अंतर होता है। सर्वसाधारण प्रेरणा सामान्य हित से ही सम्बन्धित होती है, जब कि सब व्यक्तियों की प्रेरणा वैयक्तिक हितों पर ध्यान देती है और विशिष्ट प्रेरणाओं का आकलितरूप मात्र होती है। परंतु यदि इन समस्त प्रेरणाओं से अतिरिक्तताओं और न्यूनताओं को काट दें जो यथार्थ में एक दूसरे को प्रतितालित कर देती हैं[1] तो भिन्नताओं के योग के रूप में सर्वसाधारण प्रेरणा रह जाती है।

यदि, जब यथापेक्ष संसूचित लोग संकल्प करते हों, नागरिक एक दूसरे से संचार स्थापित कर लें तो सर्वसाधारण प्रेरणा उनके अनेकानेक अल्प विभिन्नताओं के फल-स्वरूप सदा उपलब्ध होगी और संकल्प सदा हितकर होगा। परंतु जब किसी समाज में

१ मार्किस दार्गासो कहता है कि "प्रत्येक हित का अलग-अलग सिद्धान्त होता है। दो अमुक हितों का मेल किसी तीसरे हित का प्रतिपक्ष करने में ही होता है।" वह इस व्याख्या का आगे विस्तार कर सकता था कि सब हितों का सम्मिलन प्रत्येक के हित के प्रतिपक्ष स्थापित होने से ही हो सकता है। यदि हितों में भिन्नता न हो तो सामान्य हित का अस्तित्व ही अनुभूत नहीं हो सकता और न ही उसमें कोई बाधा आ सकती है। प्रत्येक वस्तु स्वतः गतिशील हो जाती है, और राजनीति कला नहीं रह सकती।

दल और बड़ी संस्था की क्षति के कारण पक्षीय संस्थाएं निर्मित हो जाती हैं तो उपरोक्त प्रत्येक संस्था की प्रेरणा निजी सदस्यों के संबंध से तो सर्वसाधारण होती है परंतु राज्य के संबंध से विशिष्ट रहती है, उस दशा में यह कहा जा सकता है कि उस राज्य में मताधिकारियों की संख्या व्यक्तियों पर आधारित रहने की अपेक्षा संस्थाओं पर आधारित हो गयी है। पारस्परिक भिन्नताएं अल्पसंख्यक हो गयी हैं और फलस्वरूप कम सर्वसाधारण रह गयी हैं। अंततः जब उपरोक्त संस्थाओं में से कोई एक इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि वह अन्य समस्त संस्थाओं पर अभिभावी हो सके तो परिणाम में अल्प भिन्नताओं का योग प्राप्त नहीं होता है, अपितु एक विशिष्ट भिन्नता प्राप्त होती है। इस दशा में सर्वसाधारण प्रेरणा रहती ही नहीं। बल्कि जो प्रेरणा प्रबल होती है वह एक विशिष्ट प्रेरणा ही है।

अतः सर्वसाधारण प्रेरणा को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य में कोई पक्षीय संस्था न हो बल्कि प्रत्येक नागरिक अपने निजी मत को ही व्यक्त करे।[१] महान् लिसर्गस के अपूर्व एवं उत्कृष्ट विधान का यही आशय था। परंतु यदि पक्षीय संस्थाएं अनिवार्य हों तो यह आवश्यक है कि उनकी संख्या अधिकाधिक हो ताकि असमानता असम्भव हो जाय, जैसा सोलन, न्यूमा और सर्वियस ने निरूपित किया था। उपरोक्त ही वे उचित पूर्वविधान हैं जिनसे इस बात का विश्वास हो सकता है कि सर्वसाधारण प्रेरणा सदा प्रकाशित होगी तथा जनता को धोखा नहीं लगेगा।

१ मैक्यावली का कथन है "यह सत्य है कि संघराज्य के कुछ भाजन क्षतिकारक और कुछ उपयोगी होते हैं। वे भाजन क्षतिकारक होते हैं जो गुट्ट और पक्षों से संसर्गिक होते हैं, वे लाभदायक होते हैं जो गुट्ट और पक्षों के बिना ही संग्रहीत होते हैं। चूँकि राज्य का कोई संस्थापक यह पूर्वावधान नहीं कर सकता कि राज्य में शत्रुता उत्पन्न नहीं होगी, उसे कम से कम इस बात का पूर्वोपाय अवश्य करना चाहिए कि गुट्ट स्थापित न हों।"

परिच्छेद ४

सार्वभौमिक सत्ता की सीमाएँ

यदि राज्य या नगर एक नैतिक निकाय है जिसका जीवन उसके सदस्यों के सम्मिलन में निहित है, और यदि इस निकाय की सबसे महत्त्वपूर्ण अपेक्षा आत्मसंरक्षण है, यह स्पष्ट है कि इस राज्य के प्रत्येक भाग को समस्त के हित की दृष्टि से उचित रूप में चालित और व्यवस्थापित करने के लिए सार्वत्रिक और बाध्यकारी बल की आवश्यकता होती है जैसे प्रकृति प्रत्येक मनुष्य को उसके समस्त अंगों पर पूर्णाधिकार देती है उसी प्रकार सामाजिक पाषक राजनीतिक निकाय को उसके समस्त सदस्यों पर निरपेक्ष शक्ति प्रदान करता है, और यही वह शक्ति है जो सर्वसाधारण प्रेरणा से संचालित होने की दशा में जैसा मैं पहिले भी कह चुका हूँ, सार्वभौमिक सत्ता के नाम से निर्दिष्ट होती है।

परंतु सार्वजनिक व्यक्तित्व के अतिरिक्त हमें लोगों के निजी व्यक्तित्व पर भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि उनका जीवन और स्वतंत्रता प्राकृतिक तौर पर सार्वजनिक व्यक्तित्व से अलग है। इस प्रकार नागरिकों और सार्वभौमिक सत्ता के अन्यान्य अधिकारों में[1] और इसी प्रकार नागरिकों के उन अधिकारों में जो उन्हें प्रजा के रूप में उपलब्ध हैं और प्राकृतिक अधिकारों में जो उन्हें व्यक्ति होने के कारण उपभोग्य हैं, स्पष्ट भेद किया जाना चाहिए।

यह अनुमान कि सामाजिक पाषण के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने समस्त बल,

१ सावधान पाठको, मैं प्रार्थना करता हूँ कि जल्दी में मुझ पर विरोधाभास का आक्षेप नहीं करो। भाषा की दरिद्रताके कारण मैं शब्दों में इसे वर्जित नहीं कर सकता हूँ, परन्तु प्रतीक्षा कीजिये।

अपनी समस्त सम्पत्ति और अपने समस्त स्वातंत्र्य का जो भाग अन्यक्रामित करता है वह केवल वही है, जिसका प्रयोग समुदाय के लिए आवश्यक होता है, किन्तु यह स्वीकार करना भी अनिवार्य है कि समुदाय के लिए क्या आवश्यक है, इसका निर्णायक केवल सार्वभौमिक सत्ताधिकारी ही होता है।

वे सब सेवाएँ जो नागरिक राज्य को दे सकता है, सार्वभौमिक शक्ति की माँग पर राज्य के प्रति देय होती हैं, परंतु दूसरी ओर सार्वभौमिक शक्ति प्रजा पर कोई ऐसा भार नहीं डाल सकती जो समुदाय के लिए लाभदायक न हो। सार्वभौमिक शक्ति ऐसा करने की अभिलाषा तक नहीं कर सकती क्योंकि युक्ति नियम के अंतर्गत, यथा प्राकृतिक नियम के अनुसार अकारण ही कोई क्रिया नहीं होती।

जो अभियुक्तियाँ हमको सामाजिक निकाय से बंधित करती हैं, वे पारस्परिक होने के कारण दायित्व बन जाती हैं और उनका स्वभाव ऐसा होता है कि उनकी पूर्ति करने में अपना कार्य किये बिना व्यक्ति दूसरों का काम नहीं कर सकता। सर्वसाधारण प्रेरणा इसीलिए सदा न्यायसंगत होती है और सब व्यक्ति अनिवार्य रूप से प्रत्येक की समृद्धि के इच्छुक होते हैं, क्योंकि समाज में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं होता जो "प्रत्येक" को अपने लिए प्रयुक्त न करता हो और सब ओर से मत प्रगट करते हुए अपने आपको (प्रत्येक) न समझता हो। इससे सिद्ध होता है कि अधिकारों की समता और न्याय का भाव जो सर्वसाधारण प्रेरणा से उत्पादित होते हैं, वे उस अधिमान्यता से व्युत्पादित हैं जो प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको देता है, परिणामस्वरूप मनुष्य के स्वभाव से ही व्युत्पादित हैं और कि सर्वसाधारण प्रेरणा यथार्थ में सर्वसाधारण प्रेरणा होने के लिए न केवल प्रयोजन से, बल्कि सारतः ही सर्वसाधारण होनी चाहिए, और कि सर्वसाधारण प्रेरणा सब को लागू होने के लिए इसे सर्वसाधारण से उदयमान भी होना चाहिए और कि सर्वसाधारण प्रेरणा की प्राकृतिक सत्यता विनष्ट हो जाती है यदि वह किसी वैयक्तिक और विशिष्ट प्रयोजन की ओर प्रवृत्त हो जाय, क्योंकि उस दशा में जो हमें अज्ञात है उसका मापदंड करने का हमारे पास कोई न्याय्य का सत्य सिद्धांत नहीं होता।

वास्तव में, जब कभी भी किसी विशिष्ट तथ्य अथवा अधिकार का नि[illegible] ऐसे बिंदु के संबंध में, जिसका विनियमन पूर्व सामान्य रूढ़ि द्वारा न हुआ [illegible] होता है तो विषय विवादग्रस्त हो जाता है। इस विवाद में स्वत्वाधि[illegible] पक्ष होते हैं और सर्वसाधारण जनता दूसरा पक्ष, परंतु मुझे यह [illegible] निर्णय किस विधान व किस निर्णायक द्वारा किया जा सकता है। विवादग्रस्त [illegible]

को सर्वसाधारण प्रेरणा के स्पष्ट निर्णय के हेतु अभ्युदिष्ट करना हास्यास्पद होगा क्योंकि सर्वसाधारण प्रेरणा केवल एक पक्षीय निर्णय का ही हो सकेगा, जो परिणामतः दूसरे पक्ष के लिए ऐसी प्रेरणा मात्र होगा जो निजात्मा से भिन्न तथा विशिष्ट और उपरोक्त परिस्थिति में अन्याय की ओर प्रवृत्त और त्रुटिपूर्ण होगी। इसलिए जिस प्रकार विशिष्ट प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती, उसी प्रकार सर्वसाधारण प्रेरणा किसी विशिष्ट निमित्त की ओर प्रवृत्त हो जाने से स्वभावतः परिवर्तित हो जाती है और सर्वसाधारण न रहने के कारण किसी व्यक्ति अथवा तथ्य का निर्णय करने की अधिकारी नहीं रहती। उदाहरणार्थ, जब अथेन्स की प्रजा अपने राजकों को निर्वाचित अथवा अधिकारच्युत करने लगी, किसी एक को आदरित और दूसरे को दंडित करने के प्रादेश प्रसारित करने लगी और अनेक विशिष्ट प्रादेशों द्वारा शासन के सब कृत्यों का अविवेकता से प्रयोग करने लगी, तो वह प्रजा सर्वसाधारण प्रेरणा को धारण न करने के कारण सार्वभौमिक सत्ता का रूप न होकर केवल दंडाधिकार की शक्ति ही प्रयोग करने लगी। यह मेरा कथन सामान्य विचारों के विपरीत प्रतीत होगा, परंतु मुझे अपने विचारों की व्याख्या करने का अवसर मिलना चाहिए।

उपरोक्त से स्पष्ट होगा कि जो प्रेरणा को सर्वसाधारणता का गुण प्रदान करता है वह मतों की संख्या नहीं परन्तु हित की सामान्यता है जिसके कारण मत सम्मिलित होते हैं, क्योंकि इस संस्थान के अन्तर्गत, प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्यतः अपने लिए वही बंधन मान्य करता है जो वह दूसरों पर आरोपित करता है। हित और न्याय का यह एक प्रशंसनीय सम्मिलन है जिसके फलस्वरूप सामुदायिक वितर्क में एक न्याय का भाव उत्पन्न हो जाता है जो किसी व्यक्तिगत प्रकार्य की चर्चा में विकसित नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ कोई सामान्य हित सम्मिलन करने का अथवा निर्णायक के मुख्य सिद्धांतों का पक्ष के साथ एकात्म्य करने का हेतु नहीं होता।

चाहे किसी मार्ग से अपने सिद्धांत की ओर उपगमन करें, हम सदा उसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सामाजिक पाषण नागरिकों में एक ऐसी समता स्थापित कर देता है कि वे सब समान बंधनों के आधीन हो जाने और समान अधिकारों को प्राप्त करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार पाषण के स्वभाव के अन्तर्गत सार्वभौमिक सत्ता की प्रत्येक क्रिया, या यूँ कहिये कि सर्वसाधारण प्रेरणा का प्रत्येक प्रामाणिक कार्य, सब नागरिकों को एक समान ही बंधित अथवा अनुगृहीत करता है, जिसका अर्थ है कि सार्वभौमिक शक्ति राष्ट्र के निकाय को ही पहिचानती है और उस निकाय को संगृहीत करनेवाले व्यक्तियों में भेद नहीं करती। अब प्रश्न यह है कि सार्वभौमिक

सत्ता की क्रिया यथार्थ में है क्या ? यह क्रिया उत्कृष्ट तथा हीन के मध्य संविदा नहीं, परंतु निकाय की अपने प्रत्येक सदस्य के साथ संविदा रूप है। यह संविदा विध्यानुकूल है, क्योंकि इसका आधार सामाजिक पाषण है, यह संविदा न्यायिक है, क्योंकि यह सबके लिए समान है, यह संविदा लाभप्रद है, क्योंकि सर्वसाधारण के हित के अतिरिक्त इसका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता, यह संविदा चिरस्थायी है, क्योंकि सर्वसाधारण का बल और वरिष्ट शक्ति इसकी प्रत्याभूति होती है। जब तक लोग उपरोक्त संविदा के अधीन होते हैं वे निजी प्रेरणा का ही अनुवर्तन करते हैं, किसी अन्य व्यक्ति का नहीं और उस अवस्था में यह प्रश्न करना कि सार्वभौमिक शक्ति और नागरिकों के अन्यान्य अधिकारों की सीमा क्या है, यथार्थ में यह पूछना है कि नागरिक परस्पर में, अर्थात् एक समस्त के साथ और समस्त एक के साथ, किस सीमा तक अभियुक्ति कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सार्वभौमिक शक्ति सार्वत्रिक पूर्णाधिकारी, सार्वत्रिक पुनीत, एवं सार्वत्रिक अनधिर्क्रम्य होते हुए भी सामान्य संविदा का न उल्लंघन करती हैं और न कर सकती हैं और कि इस संविदा के अन्तर्गत सब मनुष्य अपनी सम्पत्ति और स्वातंत्र्य के उस भाग का जो उनके पास रहा हो, पूर्णरूपेण व्यवस्थापन कर सकते हैं, और कि सार्वभौमिक शक्ति किसी व्यक्ति पर दूसरे व्यक्ति से अधिक भार डालने का अधिकार नहीं रखती, क्योंकि ऐसा करने से प्रक्रिया विशिष्ट हो जायगी और उसकी सत्ता सक्षम न रह जायगी।

यदि उपरोक्त भिन्नताएँ मान्य कर ली जावें तो यह असत्य सिद्ध हो जायगा कि सामाजिक पाषण के अन्तर्गत व्यक्तियों की ओर से कोई स्वत्व त्याग होता है, वास्तव में सामाजिक पाषण के फलस्वरूप व्यक्तियों की स्थिति पूर्व की अपेक्षा अधिमान्य होती है, कुछ खोने की अपेक्षा वे अपनी अनिश्चित तथा संदिग्ध जीवनचर्या का एक श्रेष्ठतर और अधिक विश्वस्त जीवनचर्या से, प्राकृतिक स्वाधीनता का स्वातंत्र्य से, अन्यों को क्षति पहुँचाने की शक्ति का निश्चित संरक्षण से, और दूसरों को विजित कर सकने के बल का सामाजिक संगठन द्वारा संयोदित अनतिक्रम्य अधिकार से, लाभप्रद विनियमन कर लेते हैं। उनका जीवन भी, जिसे उन्होंने राज्य के प्रति समर्पित कर दिया है, निरंतर राज्य द्वारा संरक्षित होता है, और जब वे राज्य की सुरक्षा हेतु उसे आपत्ति में डालते हैं, तो यथार्थ में वे इससे अधिक क्या करते हैं कि जो उन्होंने राज्य से प्राप्त किया है, वह उसे फेर दें। क्या प्राकृतिक अवस्था में यही क्रिया उन्हें अधिक बारंबार और अधिक जोखिम के साथ नहीं करनी पड़ती थी, जब उन्हें अनिवार्य

संघर्षों में अभियोजित होते हुए अपने निर्वाह के साधनों तक को अपने जीवन को आपत्ति में डालकर प्रतिरक्षित करना पड़ता था ? यह सत्य है कि आवश्यकता होने पर प्रत्येक को अपने देश के लिए युद्ध करना पड़ता है, परंतु पृथक् व्यक्ति को भी अपनी रक्षा के लिए युद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। क्या अपनी सुरक्षा को स्थिर करने के लिए उस जोखिम का एक क्षीण भाग वहन करना प्राप्ति नहीं है जिसे इस सुरक्षा के अभाव में हर व्यक्ति को अपनी वैयक्तिक रक्षा के लिए पूरा वहन करना पड़ता था ?

परिच्छेद ५

जीवन और मरण का अधिकार

यह प्रश्न किया जा सकता है कि वे व्यक्ति जिन्हें अपने जीवन को समाप्त करने का अधिकार नहीं है, सार्वभौमिक शक्ति को वह अधिकार, जो उन्हें स्वयं प्राप्त नहीं है, कैसे दे सकते हैं ? इस प्रश्न का निराकरण केवल इसलिए कठिन प्रतीत होता है कि यह प्रश्न गलत प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः परिरक्षित होने के लिए अपने जीवन को संकट में डालने का अधिकार है। क्या कोई कह सकता है कि जो व्यक्ति आग से बचने के लिए खिड़की से नीचे कूदता है, वह आत्महत्या का दोषी है ? इसी प्रकार क्या यह अपराध किसी ऐसे व्यक्ति के सिर आरोपित किया गया है जो तूफान में मर गया हो हालाँकि जहाज में चढ़ते समय वह तूफान आने की सम्भावना से अनभिज्ञ नहीं था ?

सामाजिक बंध का उद्देश्य संविदा करनेवाले पक्षों का परिरक्षण होता है। जो निमित्त का इच्छुक होता है, उसे उस निमित्त प्राप्ति के साधनों को भी मान्य करना पड़ता है, और साधनों से कुछ संकट और कुछ हानियाँ अविभेद्य होती हैं। जो अपने जीवन को दूसरों के सहारे परिरक्षित करना चाहता है उसे अपने जीवन को भी आवश्यकता पड़ने पर दूसरों के लिए देने को उद्यत होना चाहिए। नागरिक उस संकट का निर्णायक नहीं हो सकता जिसे विधान के अन्तर्गत उसे सहन करना पड़ता है, और जब राजक उसे आदेश देता है कि "राज्य के रक्षण के लिए यह आवश्यक है कि तुम मरो" उसे मरने को उद्यत होना चाहिए, क्योंकि इसी शर्त पर उसने इतने दिनों तक अपना जीवन निर्भयता से बिताया है और क्योंकि उसका जीवन अब प्रकृति का उपहार न रहकर राज्य का सप्रतिबंध उपहार हो गया है।

अपराधियों को जो मौत का दंड दिया जाता है, उसे इसी दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। हत्या करनेवाला मरने को इसलिए राजी हो जाता है कि नहीं तो उसे

किसी घातक की बलि होना पड़ेगा। सामाजिक बंध में प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा परिरक्षित करने की ही सोचता है और बंध करते समय संविदा करनेवाले पक्ष फाँसी लगने का चिंतन तक नहीं करते।

अपरंच, हर अपराधी जो सामाजिक अधिकारों पर आक्रमण करता है, अपने कार्यों के फलस्वरूप देश के प्रति विद्रोही और विश्वासघाती हो जाता है। देश के विधानों का उल्लंघन करने के कारण वह उस देश का सदस्य नहीं रहता बल्कि उससे युद्ध करने का अपराधी हो जाता है। उस दशा में राज्य का परिरक्षण तथा उस व्यक्ति का परिरक्षण परस्पर में असंगत हो जाते हैं, दोनों में से एक का विनाश अनिवार्य हो जाता है। इसलिए जब किसी अपराधी को फाँसी दी जाती है तो यथार्थ में एक नागरिक को फाँसी नहीं दी जाती, बल्कि एक शत्रु को। प्रकरण की कार्यवाही और निर्णय इस बात का प्रमाण तथा घोषणा हैं कि उस व्यक्ति ने सामाजिक बंध को तोड़ दिया है और फलतः वह उस राज्य का सदस्य नहीं रह गया है। चूँकि देश में निवास होने के कारण उसकी सदस्यता को स्वीकृत कर लिया गया था, अब उसे बंध के उल्लंघनकर्ता होने के कारण देश से निष्कासित करके अलग करना अथवा सार्वजनिक शत्रु के रूप में मौत द्वारा समाप्त कर देना आवश्यक है क्योंकि उपरोक्त शत्रु एक नैतिक व्यक्ति न रहकर केवल एक मनुष्य रह जाता है और युद्ध के नियमों के अन्तर्गत पराजित शत्रु को मारना न्यायसंगत होता है।

परंतु कोई यह कह सकता है कि अपराधी को मौत का दंड देना एक विशिष्ट क्रिया है। यह बात स्वीकार है, मृत्यु-दंड देने का अधिकार सार्वभौमिक सत्ता में निहित नहीं है। सार्वभौमिक सत्ता इस अधिकार को दूसरे को प्रदान कर सकती है परंतु स्वयं इसका प्रयोग नहीं कर सकती। मेरे समस्त विचार शृंखलाबद्ध हैं, परंतु मैं उन सबकी एक साथ ही व्याख्या नहीं कर सकता।

साथ ही यह भी ठीक है कि मृत्यु-दंड की बारंबारिता सदा शासन की दुर्बलता एवं अचेतता का द्योतक होती है। कोई मनुष्य इतना निरुपयोगी नहीं होता कि उसे किसी न किसी निमित्त के योग्य न बनाया जा सके। हम उदाहरण स्थापित करने के निमित्त भी केवल उन्हीं को मारने के अधिकारी हैं, जिनका परिरक्षण करना खतरे से खाली न हो।

जहाँ तक क्षमा प्रदान करने अथवा अपराधी मनष्य को विधान के अंतर्गत न्यायाधीश द्वारा दिये हुए दंड से मुक्त करने का सम्बन्ध है, यह अधिकार केवल सार्वभौमिक

सत्ता में ही निहित है, जो न्यायाधीश और विधान दोनों के ऊपर है। तथापि सार्वभौमिक सत्ता का यह अधिकार बहुत स्पष्ट नहीं है और इसे प्रयोग में लाने के अवसर बहुत बिरले आते हैं। सुशासित राज्य में दंड बहुत कम दिये जाते हैं। इसका कारण यह नहीं कि बहुधा क्षमा प्रदान की जाती है, बल्कि यह कि अपराधी ही कम होते हैं। जब राज्य क्षय की ओर प्रवृत्त होता है, तो अपराधियों का समूह तक दंड से बच जाता है। रोमी गणराज्य में न शिष्ट सभा और न उप-राज्यपाल क्षमा प्रदान करने को उद्यत होते थे, जन-समुदाय भी क्षमा प्रदान नहीं करता था, यद्यपि अनेक बार वे अपने निर्णयों को निरस्त कर देते थे। बारंबार क्षमा प्रदान का अर्थ यह होता है कि शीघ्र ही अपराधियों को क्षमा की आवश्यकता न रहेगी, और उसका अंतिम परिणाम क्या होगा, हर व्यक्ति समझ सकता है। लेकिन मेरा हृदय असंतुष्ट हो रहा है और मेरी लेखनी को रोक रहा है। इन प्रश्नों को उस धार्मिक मनुष्य के विचारार्थ छोड़ना ठीक होगा जिसने कभी अपराध न किया हो और जिसे कभी क्षमा-प्राप्ति की आवश्यकता न पड़ी हो।

परिच्छेद ६

विधान

सामाजिक पाषण से राजनीतिक निकाय तो अस्तित्व में आ गया, अब प्रश्न यह है कि विधान द्वारा इसे गति और प्रेरणा किस प्रकार प्रदान की जाय, क्योंकि मूल क्रिया जो इस निकाय को निर्मित अथवा सम्मिलित करती है, इसके अतिरिक्त और कुछ निश्चय नहीं करती कि इस निकाय को अपने संरक्षण के लिए क्या करना चाहिये।

जो उचित है और व्यवस्था के अनुरूप है वह वस्तुओं के स्वभाव के अंतर्गत और मानुषिक संविदा से स्वतन्त्र ही ऐसा होता है। समस्त न्याय ईश्वरीय देन है। समस्त न्याय ईश्वर से प्राप्त होता है, केवल वह ही इसका स्रोत है, परन्तु यदि हमारे लिए इतने उत्कृष्ट स्रोत से सीधा उसे प्राप्त करना सम्भव होता तो हमें न शासन की आवश्यकता थी और न विधानों की। निस्सन्देह सार्वत्रिक न्याय विवेक से ही उत्पन्न होता है, परंतु यह न्याय समुदाय में मान्य होने के लिए अन्योन्य होना चाहिये। यदि वस्तुओं को मानुषिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो प्राकृतिक सम्मोदन-विहीन न्याय सिद्धान्त मनुष्य-समुदाय में निरर्थक सिद्ध होते हैं। जब कोई एक व्यक्ति उन पर दूसरे सब मनुष्यों के प्रति अमल करे, परन्तु कोई और मनुष्य उस व्यक्ति के प्रति उन पर अमल न करे तो वे दुष्टों को लाभप्रद और भलों को हानिप्रद ही सिद्ध होते हैं। इसलिए रूढ़ियाँ तथा विधान अधिकारों को कर्तव्यों के साथ सम्मिलित करने और न्याय को उसके प्रयोजन के साथ सम्बद्ध करने के लिए आवश्यक होते हैं। प्राकृतिक अवस्था में जहाँ सब कुछ सामान्य है, उन्हें, जिनको मैंने कुछ देने का वचन नहीं दिया है, कुछ भी देने को बाध्य नहीं हूँ, केवल वही वस्तु मैं दूसरों की सम्पत्ति मानने को उद्यत हूँ जो मेरे लिये निरर्थक है। सामाजिक अवस्था में जहाँ सब अधिकार विधान द्वारा संस्थापित होते हैं, उपरोक्त स्थिति उपस्थित नहीं होती।

परंतु अंत में विधान है क्या ? जब तक लोग इस शब्द के साथ आध्यात्मिक विचारों का सम्मिश्रण करते रहेंगे उनकी दलीलें दूसरोंकी समझ में नहीं आयेंगी और उस दशा में, जब वे प्राकृतिक विधान की व्याख्या करेंगे, तो उससे किसी को राज्य का विधान क्या है, यह अधिक स्पष्ट नहीं होगा।

मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि किसी विशिष्ट प्रयोजन के सम्बन्ध में सर्वसाधारण प्रेरणा प्रयुक्त नहीं होती। यथार्थ में उपरोक्त विशिष्ट प्रयोजन या तो राज्य के अन्तर्गत होता है या राज्य के बाहर। यदि यह राज्य के बाहर हो तो वह प्रेरणा जो बाह्य है राज्य-सम्बन्ध में सर्वसाधारण हो ही नहीं सकती, और यदि यह राज्य के अन्दर है तो यह उसका एक अंग होती है, और उस दशा में सम्पूर्ण और उसके एक अंग में एक ऐसा सम्बन्ध उत्पन्न हो जायगा जिसके अन्तर्गत वे दो अलग-अलग आत्माएँ बन जायेंगी, अर्थात् सम्पूर्ण का एक अंग एक अलग आत्मा और इस अंग के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण एक दूसरी आत्मा। परंतु सम्पूर्ण किसी एक भाग को कम कर देने के अनंतर सम्पूर्ण नहीं रहता और जब तक उपरोक्त सम्बन्ध निर्वाहित रहेगा तब तक सम्पूर्ण वस्तु अस्तित्व में न रहकर केवल दो असमान भाग रहेंगे, जिसका अर्थ यह होगा कि किसी एक भाग की प्रेरणा दूसरे के सम्बन्ध में सर्वसाधारण प्रेरणा नहीं होगी।

परंतु जब कोई सम्पूर्ण जन-समुदाय सम्पूर्ण समुदाय के लिए प्रादेश जारी करता है तो वह अपने आपको ही अवलोकित करता है और यदि उस दशा में कोई सम्बन्ध स्थापित होता है तो यह सम्बन्ध सम्पूर्ण को विभाजित किये बिना सम्पूर्ण वस्तु किसी एक बिन्दु के प्रकाश में और सम्पूर्ण वस्तु किसी अन्य बिन्दु के प्रकाश में, इन दोनों के बीच होगा। परिणामतः जिस विषय के सम्बन्ध में प्रादेश निर्मित किया जायगा, यथा वह प्रेरणा जो उस प्रादेश को निर्माण करने का निमित्त होगी, दोनों सर्वसाधारण होंगे। उपरोक्त क्रिया को मैं विधान कहता हूँ।

जब मैं यह प्रस्तुत करता हूँ कि विधान का प्रयोजन सदा सर्वसाधारण होता है तो मेरा यह अर्थ है कि विधान विषयों का सामूहिक रूप में और क्रियाओं का अमूर्त रूप में निरूपण करता है, मनुष्य का व्यक्तिगत रूप में अथवा किसी एक विशिष्ट क्रिया का कभी निरूपण नहीं करता। उदाहरणार्थ, विधान द्वारा यह प्रादेश दिया जा सकता है कि विशेषाधिकार स्थापित होंगे, परंतु उन विशेषाधिकारों को किसी एक विशिष्ट व्यक्ति को प्रदत्त नहीं किया जा सकता। विधान द्वारा नागरिकों की अनेक श्रेणियाँ बनायी जा सकती हैं, और वह अर्हताएँ भी निर्धारित की जा सकती हैं जो प्रत्येक श्रेणी में सम्मिलित होने को अधिकृत करेंगी, परंतु विधान विशिष्ट व्यक्तियों को किसी एक श्रेणी में नाम निर्दिष्ट नहीं कर सकता। विधान द्वारा राजन्य शासन अथवा पित्रागत उत्तराधिकार स्थापित किया जा सकता है, परंतु विधान द्वारा कोई राजा निर्वाचित नहीं किया जा सकता, न ही कोई राजन्य कुटुम्ब नियुक्त किया जा सकता

है। संक्षेप में, वैधानिक शक्ति द्वारा कोई ऐसी क्रिया कार्यान्वित नहीं की जा सकती जिसका सम्बन्ध किसी एक प्रयोजन से हो।

उपरोक्त दृष्टिबिन्दु से यह तत्काल स्पष्ट हो जायगा कि यह पूछने की कि विधान बनाना किसका कर्तव्य होना चाहिये, आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि विधान सर्व-साधारण प्रेरणा के कार्य होते हैं। न यह स्पष्ट करने की आवश्यकता रहती है कि राजा विधानों के ऊपर है अथवा नहीं, क्योंकि राजा भी राज्य का एक सदस्य होता है। न यह पूछने की आवश्यकता रहती है कि क्या विधान अन्यायपूर्ण हो सकता है, क्योंकि कोई अपने ही प्रति अन्याय नहीं करता। न यह निर्धारित करने की आवश्यकता रहती है कि किस प्रकार हम स्वतंत्र हैं और विधानों के अधीन भी हैं, क्योंकि विधान वास्तव में हमारी अपनी प्रेरणाओं के ही तो निबंध मात्र हैं।

अपरंच इससे स्पष्ट हो जायगा कि क्योंकि विधान में प्रेरणा की सार्वत्रिकता और प्रयोजन की सार्वत्रिकता का सम्मिश्रण होता है, इसलिए जो निर्देश व्यक्ति, चाहे वह कोई हो, केवल अपने बल से देता है, विधान नहीं हो सकता। इसी प्रकार सार्वभौमिक सत्ता भी जो निर्देश किसी विशिष्ट प्रयोजन के सम्बन्ध में करती है, वह विधान न होकर केवल एक प्रादेश ही होता है, सार्वभौमिक सत्ता की क्रिया न होकर दंडाधिकार की क्रिया होती है।

इसीलिए मैं किसी ऐसे राज्य को गणराज्य कहता हूँ जो विधानों द्वारा शासित होता है,चाहे उसके प्रशासन की शैली कैसी ही हो,क्योंकि उपरोक्त स्थिति में ही सार्व-जनिक हित सर्वोपरि होता है और सार्वजनिक वस्तु सार्थक होती है। प्रत्येक न्याययुक्त शासन गणराज्यात्मक[१] होता है। शासन का क्या] अर्थ है यह मैं आगे बताऊँगा।

विधान यथार्थ में सामाजिक साहचर्य का प्रतिबन्ध मात्र है। लोगों को विधानों के अधीन होने के कारण उनके निर्माता होना चाहिये क्योंकि साहचर्य के प्रतिबंधों का

१ इस शब्द से मेरा अर्थ शिष्ट जनसत्ता राज्य अथवा जनतंत्र इत्यादि से नहीं है परन्तु साधारणतया ऐसे शासन से है जो सर्वसाधारण प्रेरणा द्वारा, अर्थात् विधान द्वारा, संचालित होता है। न्याययुक्त होने के लिए शासन को सार्वभौमिक सत्ता के साथ संयोजित नहीं करना चाहिये, परन्तु इसे सार्वभौमिक सत्ता का सहायक बनाना चाहिये। उस स्थिति में राजन्य शासन भी गणराज्य हो जायगा। इसका स्पष्ट विवेचन अगली पुस्तक में किया जायगा।

निर्णय सहचारियों द्वारा ही किया जाना उपयुक्त है। परन्तु वे निर्णय किस प्रकार करेंगे, सामान्य संबिदा द्वारा अथवा आकस्मिक उच्छ्वास द्वारा ? क्या राजनीतिक निकाय को अपनी प्रेरणा व्यक्त करने का कोई साधन उपलब्ध है ? अपने कार्यों की रचना करने और उन्हें पूर्वतः प्रकाशत करने को आवश्यक पूर्वज्ञान उसे कौन प्रदान करेगा और आवश्यकता के समय वह इन्हें किस प्रकार उदघोषित करेगा ? एक अंध जनसमूह जो बहुधा अपनी इच्छाओं को नहीं जानता, क्योंकि उसे अपने हित की पहिचान भी बहुत कम होती है, इतने बड़े और कठिन उपक्रम को जो विधान बनाने में अंतर्धृत होता है, कैसे स्वतः ही निष्पादित करेगा ? स्वतः लोग सदा अपना हित चाहते हैं, परन्तु सदा उस हित का विवेचन नहीं कर पाते। सर्वसाधारण प्रेरणा सदैव उचित होती है, परंतु जो निर्णय-शक्ति इसका पथप्रदर्शन करती है वह सदा संशय-रहित नहीं होती। आवश्यकता यह है कि उसे वस्तुओं का यथार्थ रूप दिखाया जाय और कभी-कभी तो, कि वह रूप भविष्य में क्या होनेवाला है, कि उसे वह हितकारी पथ प्रदर्शित किया जाय जिसकी वह खोज करती है, कि उसे वैयक्तिक हितों के शीलाप-वाहन से प्रतिरक्षित किया जाय और कि इसे समय और क्षेत्र का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने को प्रवृत्त किया जाय ताकि यह तत्कालीन और प्रत्यक्ष हितों के प्रलोभन का दूरस्थ और गुप्त अहितों के भय से संतुलन कर सके। व्यक्ति उस हित की ओर दृष्टिपात करते हैं जिसे वे अस्वीकृत करते हैं और जनता उस हित को चाहती है जिसे वह स्पष्टतया देख नहीं पाती। सबको समानतः पथ-प्रदर्शकों की आवश्यकता है। व्यक्तियों को अपनी इच्छाओं का नियमन युक्ति के अनुरूप करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिये। जनता को किस वस्तु की आवश्यकता है यह पहिचानने की शिक्षा दी जानी चाहिये। इस प्रकार जनसाधारण के प्रबोधन के फलस्वरूप सामाजिक निकाय में बुद्धि और प्रेरणा का एकीकरण सम्भाव्य होगा और उससे सर्वांगों का यथार्थ सहकार्य और अंत में समस्त की अधिकतम शक्ति सम्पादित होगी। इस प्रकार विधिकर की आवश्यकता उत्पन्न होती है।

परिच्छेद ७

विधिकर

साहचर्य के उचिततम नियमों का निरूपण करने के हेतु जो राष्ट्रों को उपयुक्त हो, यह परमावश्यक है कि एक ऐसी उत्कृष्ट बुद्धि की प्राप्ति हो जो स्वयं उन भावों के प्रभाव में न होते हुए लोगों के सब भावों की प्रतीति कर सके, जो हमारे स्वभाव से सादृश्य न रखे परन्तु इसे पूर्णरूपेण जान सके, जिसका अपना सुख हम पर निर्भर न हो, परन्तु हमारे सुख में दिलचस्पी लेने को उद्यत हो सके, और अंततः, जो समय की प्रगति के साथ अपनी दूरस्थित प्रसिद्धि को संगृहीत करती हुई एक युग में श्रम करने और दूसरे युग में उसका फल भोगने को तैयार हो सके। स्पष्ट है कि लोगों को विधान देने के लिए ईश्वरीय शक्ति की आवश्यकता होती है।

कैलिक्युला ने तथ्य के सम्बन्ध में जो युक्ति दी थी प्लेटो ने उसी युक्ति को सामाजिक और राजक मनुष्य का आदर्श स्थापित करते समय, अपने ग्रंथ 'स्टेट्समैन' में अधिकार के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया। परन्तु यदि यह सत्य है कि महान् राजक दुर्लभ होता है तो महान् विधिकर की स्थिति क्या होगी ? क्योंकि महान् राजक को तो केवल उस आदर्श की पूर्ति करनी है जिसका निर्माण महान् विधिकर द्वारा किया जाता है। महान् विधिकर यंत्र को उपज्ञात करनेवाला यांत्रिक होता है, महान् राजक केवल वह कर्मकार है जो इसे निष्पन्न करके चालू करता है। मांटेस्क्यू का कथन है कि "समाजों की उत्पत्ति के सिलसिले में गणराज्यों के राजक संस्थाओं का निर्माण करते हैं और तदनंतर यह संस्थाएं गणराज्यों के राजकों को निर्धारित करती हैं।"

जो व्यक्ति किसी राष्ट्र को संस्थाएं प्रदान करने को उद्यत होता है उसे निज में कतिपय शक्तियाँ अनुभव करनी चाहिये अर्थात् मानुषिक प्रकृति को बदलने की शक्ति, प्रत्येक व्यक्ति को जो स्वतः एक पूर्ण और स्वतंत्र इकाई है, एक ऐसी बृहत्तर इकाई का भाग बना देने की शक्ति जिससे वह किसी प्रकार अपना जीवन और अस्तित्व प्राप्त

करता हो, मनुष्य को अधिक प्रबल बनाने के लिए उसके स्वभाव को बदलने की शक्ति, उस स्वतंत्र और भौतिक अस्तित्व को जो हम सबने प्रकृति से प्राप्त किया है, सामाजिक और नैतिक अस्तित्व द्वारा प्रतिस्थापित करने की शक्ति। एक शब्द में, यह आवश्यक है कि वह मनुष्य को अपनी कुछ स्वाभाविक शक्तियों से वंचित करे ताकि उसमें ऐसी नयी शक्तियाँ सम्पन्न हो सकें जो उसके लिए वाह्य हैं और जिनका प्रयोग वह दूसरों की सहायता के बिना नहीं कर सकता। जिस मात्रा में ये प्राकृतिक शक्तियाँ मंद और विनष्ट कर दी जावेंगी उसी मात्रा में अवाप्त शक्तियाँ अधिक विशाल और स्थिर होंगी और संस्थाएं भी अधिक ठोस और सम्पूर्ण होंगी। इस प्रकार यदि प्रत्येक नागरिक समस्त दूसरों से सम्मिलित हुए बिना नकारात्मक हो जाय और कुछ कर न सके और यदि सम्पूर्ण द्वारा अवाप्त शक्ति सब व्यक्तियों की प्राकृतिक शक्तियों के योग के बराबर अथवा उससे उत्कृष्ट हो, तो हम कह सकते हैं कि विधान सम्पूर्णत्व की सम्भाव्य उत्कृष्टतम सीमा को प्राप्त हो गया है।

प्रत्येक दृष्टि से विधिकर राज्य में एक असाधारण मनुष्य होता है। अपनी अपूर्व बुद्धि के कारण तो उसको असाधारण होना ही चाहिये, परंतु अपने कर्तव्य से भी वह असाधारण ही होता है। उसमें न दंडाधिकार है और न सार्वजनिक सत्ता निहित होती है। विधिकर का पद गणराज्य का निर्माता होते हुए भी इसके संविधान में कोई स्थान नहीं रखता, यह एक विशेष और उत्कृष्ट पद होता है जिसकी मानुषिक शासन से कोई समानता नहीं हो सकती, क्योंकि यदि जो मनुष्यों पर प्रशासन करता है उसे विधानीकरण का अधिकार नहीं होना चाहिये, तो जिसका कर्तव्य विधानीकरण है उसे भी मनुष्यों का शासन नहीं करना चाहिये, नहीं तो उसके द्वारा निर्मित विधान, उसकी अपनी लालसाओं के सहायक होने के कारण, बहुधा उसके अपने अनैतिक कार्यों को शाश्वत करने का साधन मात्र हो जायेंगे और वह कदापि अपने वैयक्तिक विचारों को अपने कर्तव्य की पवित्रता को दूषित करने से अवरुद्ध नहीं कर सकेगा।

जब लिसर्गस[१] ने अपने देश का विधान बनाना आरम्भ किया तो सर्वप्रथम उसने अपना राज्य-पद त्यागा। अनेक यूनानी नगरों में यह प्रथा थी कि वे अपने विधानों का निर्माण विदेशियों के सुपुर्द किया करते थे। इटली के अर्वाचीन संघराज्य भी इसी

१ राष्ट्र केवल तब प्रसिद्ध होता है जब उसका विधान अवनत होना शुरू हो। लोग इससे अनभिज्ञ हैं कि लिसर्गस द्वारा स्थापित संस्थाएँ स्पार्टावालों को कितनी शताब्दियों तक सुख प्रदान करती रहीं, पूर्व इसके कि वे समस्त यूनान में जानी गयी।

रीति का अनुसरण करते थे, जनीवा के शासन ने भी यही किया और इसे लाभप्रद पाया[1]। रोम ने अपने सबसे यशस्वी युग में विधानीकरण शक्ति और सार्वभौम सत्ता को एक ही हस्त में एकत्रित करने के परिणामस्वरूप यह अनुभव किया कि अत्याचार के समस्त दोष उसके भीतर उत्पन्न हो गये हैं और उसे विनाश की सीमा तक पहुँचा दिया है।

फिर भी, द्वादश विधिकर मंडल ने केवल अपने प्राधिकार के बल पर किसी विधान को पारित करने की धृष्टता कभी नहीं की। वे हमेशा लोगों से कहते थे कि "जो कुछ हम प्रस्तावित करते हैं, विधान का रूप तभी धारण करेगा जब आप लोग इसे मान्य करेंगे। रोम के निवासियो तुम स्वयं अपने विधानों के निर्माता बनो, क्योंकि इनसे तुम्हारा सुख परिरक्षित होना चाहिये।"

इसलिए जो विधानों की रचना करता है उसे न कोई विधानीकरण का अधिकार होता है और न होना चाहिये, और लोग, यदि वे ऐसा चाहें भी तो, अपने आपको इस अनन्य संचरीय अधिकार से विहीन नहीं कर सकते हैं क्योंकि आधारभूत पावण के अनुसार सर्वसाधारण प्रेरणा ही व्यक्तियों को बाध्य करने की शक्ति रखती है और यह निश्चित रूप से कभी नहीं कहा जा सकता कि कोई विशिष्ट प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा के अनुकूल है जबतक कि उसपर लोगों का स्वतंत्र मत प्राप्त न कर लिया गया हो। मैं यह पहिले भी कह चुका हूँ परंतु इसे दोहराना निरर्थक नहीं होगा।

इस प्रकार विधानीकरण के कार्य में हम एक साथ दो चीजें पाते हैं जो असंगत प्रतीत होती हैं। एक ऐसा उपक्रम जो मानुषिक शक्ति में से भी परे है और इसे निष्पादित करने के लिए एक प्राधिकार जो बिल्कुल नकारात्मा-सा है।

एक और कठिनाई भी ध्यान देने योग्य है। वे बुद्धिमान मनुष्य जो साधारण लोगों से बोलते समय उनकी भाषा की अपेक्षा अपनी निजी भाषा का प्रयोग करते हैं, वे समझे नहीं जा सकते, परन्तु हजारों ऐसे विचार हैं जो लोगों की सामान्य भाषा में

१ जो कैल्विन को केवल अध्यात्मवादी के रूप में ही जानते हैं वे उसकी उत्कृष्ट बुद्धि के विस्तार से अपरिचित मात्र हैं। हमारे देश की बुद्धिपूर्ण राज्यघोषणाओं का सम्पादन, जिसमें उसका महान् भाग था, उसके यश का इतना ही बड़ा आधार है, जितना उसके द्वारा लिखित 'संस्था' नामक ग्रंथ। हमारे धर्म में समय कितनी ही क्रान्ति उत्पन्न कर दे परन्तु जब तक हम में देश और स्वतंत्रता के प्रेम का ह्रास नहीं होता है, इस महान् पुरुष का संस्मरण आदरपूर्वक किया ही जाता रहेगा।

अनूदित नहीं हो सकते। अतिसामान्य अभिप्राय और अतिदूरस्थ प्रयोजन इसकी पहुँच से बाहर हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने विशिष्ट हितों से सम्बन्धित शासन-व्यवस्था के अतिरिक्त किसी अन्य का अनुभव न रखने के कारण, उन लाभों को कठिनता से अवलोकित करता है जो अच्छे विधानों द्वारा निर्दिष्ट शाश्वत नियुक्तियाँ उसे प्रदान कर सकती हैं। एतदर्थ कि कोई नवनिर्मित राष्ट्र राजनीति के स्वस्थ सिद्धांतों का अनुभव कर सके और राज्य के आधारभूत नियमों का निष्पादन कर सके, यह आवश्यक होता है कि परिणाम कारण का स्थान ले, कि जो सामाजिक प्रवृत्ति उस संस्था का परिणाम होनेवाली है, वह स्वयं संस्था का अध्यासन करे और मनुष्य विधान बनने के पूर्व ऐसे हों जैसे वे विधान द्वारा बननेवाले हैं। चूँकि विधिकर बल अथवा तर्क का प्रयोग नहीं कर सकता इसलिए यह आवश्यक है कि उसे एक दूसरे प्रकार का प्राधिकार प्राप्त हो जो हिंसा-प्रयोग के बिना बाधित कर सके और संतोष दिये बिना प्रतीति करा सके।

यही कारण है कि सब युगों में राष्ट्र-पिताओं को आकाश के अंतरयण की शरण लेनी पड़ी और अपनी निजी बुद्धि का यश ईश्वर पर अर्पित करना पड़ा ताकि राष्ट्र प्रकृति के नियमों की तरह राज्य के नियमों के अधीन रहते हुए और मनुष्य के निर्माण में निहित शक्ति के समान राज्य के निर्माण में प्रयुक्त शक्ति को स्वीकार करते हुए स्वेच्छा से आज्ञापालन कर सके और सार्वजनिक कल्याण के भार को नम्रतापूर्वक वहन कर सके।

विधिकर उस उत्कृष्ट युक्ति को जो साधारण मनुष्यों की पहुँच के बाहर होती है, देवों द्वारा वर्णित प्रदर्शित करता है, इसलिए कि वह ईश्वरीय प्राधिकार से उन लोगों को प्रभावित कर सके जिन्हें मानुषिक बुद्धि प्रभावित करने में असफल होती है।[1] परन्तु हर मनुष्य ईश्वर से बात नहीं करा सकता, न ही हर मनुष्य को लोग ईश्वरीय उपदेश के व्याख्याकर्ता के रूप में मान सकते हैं। विधिकर की महान आत्मा ही वह वास्तविक चमत्कार है जो उसके नियोग का प्रमाण होता है। सब लोग शिला फलकों पर खोद

१ मैक्यावली का कथन है कि "यह बात सत्य है कि किसी राष्ट्र में कोई ऐसा असाधारण विधान-निर्माता नहीं हुआ जिसने ईश्वर का आधार न लिया हो, क्योंकि नहीं तो वे विधान स्वीकृत नहीं हो सकते थे। बुद्धिमान मनुष्य कई ऐसे लाभप्रद सिद्धान्तों की अनुभूति कर सकता है जो इतने स्वतः स्पष्ट नहीं होते कि वह दूसरों द्वारा भी स्वीकृत हो सके।"

सकते हैं, भविष्यवक्ताओं को उत्कोचित कर सकते हैं, किसी ईश्वरीय शक्ति से गुप्त संचार का बहाना कर सकते हैं अथवा किसी पक्षी को कान में बोलने को प्रशिक्षित कर सकते हैं, अथवा लोगों को प्रभावित करने का कोई अन्य फूहड़ साधन निकाल सकते हैं। जो केवल उपरोक्त साधनों से ही भिज्ञ हैं वह सम्भवतः मूर्ख लोगों का समूह एकत्रित कर सके, परन्तु वह कभी भी साम्राज्य का संस्थापक नहीं हो सकता और उसकी मृत्यु के साथ ही यथाशीघ्र उसकी अवास्तविक कृति विनष्ट हो जायगी। सारहीन प्रवंचनाएं अचिरस्थायी बंधन मात्र स्थापित कर सकती हैं, केवल बुद्धि ही बंधन को चिरस्थायी बनाती है। यहूदियों का विधान जो अब भी जीवित है और इस्माइल के बच्चे का विधान जो दस शताब्दियों से आधे विश्व पर शासन कर रहा है, अब भी उन महान् पुरुषों का यश प्रज्वलित कर रहे हैं जिन्होंने उन्हें रचा था। अभिमानी दर्शनों और अंध पक्षपाती भावों को इन विधानों में भाग्यवान पाखंड के अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता है, परंतु वास्तविक राजनीति इन विधानों की शैली में उस महान और शक्तिशाली उत्कृष्ट बुद्धि का दर्शन करती है जो स्थायी संस्थाओं की अध्यासक होती है।

उपरोक्त के आधार पर बावेर्टन की भाँति यह अनुमान करना आवश्यक नहीं कि हमारे मध्य राजनीति और धर्म का उद्देश्य एकीभूत होता है, केवल यह मानना आवश्यक है कि राष्ट्रों की उत्पत्ति में एक दूसरे का निमित्त बनता है।

परिच्छेद ८

राष्ट्र (१)

जिस प्रकार वास्तुकार किसी विशाल भवन के निर्माण के पूर्व यह जानने के लिए स्थल की जाँच करता है कि भवन के भार को वह सम्भाल सकेगी अथवा नहीं, उसी प्रकार बुद्धिमान विधिकर अच्छे विधानों का प्रवर्तन केवल इसीलिए प्रारम्भ नहीं कर देता कि वे स्वतः ही उत्तम हैं, बल्कि प्रथम वह यह जाँच करता है कि वे लोग जिनके लिए वह विधान बना रहा है, उनको सहन करने की सामर्थ्य रखते हैं वा नहीं। यही कारण था कि प्लेटो ने आर्केडिया निवासियों तथा सीरेनिया निवासियों के लिए विधान बनाने से इनकार कर दिया था, क्योंकि उसे ज्ञान था कि यह दोनों राष्ट्र सम्पन्न हैं और समानता के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करेंगे; और यही कारण है कि क्रीट देश में उत्तम विधान किन्तु कूट लोग पाये जाते हैं क्योंकि मिनोस ने दोष परिपूर्ण लोगों को ही अनुशासित करने की कोशिश की थी।

सहस्त्रों राष्ट्र जो भूमि पर फले-फूले हैं उत्तम विधानों को सहन नहीं कर सकते थे, और जो कुछ ऐसा कर भी सकते थे वे भी अपने सम्पूर्ण जीवन के थोड़े ही काल में ऐसा करने में सफल हुए। मनुष्यों की भाँति बहुधा राष्ट्र भी अपने यौवनकाल में ही वश्य होते हैं, बड़े होने के साथ वे अशोध्य हो जाते हैं। जब एक बार रूढ़ियाँ स्थापित हो जाती हैं तथा प्रतिकूलताएँ जड़ पकड़ जाती हैं, तो उन्हें बदलने का प्रयत्न एक भयावह एवं निष्फल चेष्टा होती है, क्योंकि लोग, उन मूर्ख और भीरु मरीजों की भाँति जो चिकित्सक की शकल देखते ही काँपने लग जाते हैं, यह सह नहीं सकते कि उनके कष्टों को निवारणार्थ अंकित तक किया जावें।

किन्तु जिस प्रकार कुछ बीमारियाँ मनुष्य के मस्तिष्क को अस्थिर कर देती हैं और भूत की कुल स्मृति को नष्ट कर देती हैं, उसी प्रकार कभी-कभी राष्ट्रों के जीवन में ऐसे विप्लवकाल होते हैं जिनमें क्रांति से राष्ट्रों के मस्तिष्क पर वही प्रभाव पड़ता

है जो कतिपय संकटों से व्यक्तियों के मस्तिष्क पर पड़ता है, जिनमें भूत का भय विस्मरण का स्थान प्राप्त कर लेता है तथा गृह-युद्ध से पीड़ित राष्ट्र अपनी भस्म से जैसे पुनर्जीवित हो उठता है और यमराज के हाथों से छूटकर एक नये यौवन की अनुभूति करने लगता है। लिसर्गस के समय में स्पार्टा की यही दशा हुई, तार्क्विनों के अनन्तर रोम भी इसी स्थिति से गुजरा था। बलाधिकारियों को निष्कासित करने के अनन्तर हालैंड तथा स्विटजरलैण्ड भी हमारे ही मध्य इस स्थिति से गुजरे हैं।

परन्तु यह घटनाएं बिरली होती हैं, ये अपवाद रूप हैं जो किसी विशेष राज्य के विशिष्ट संगठन के कारण ही घटित होती हैं। किसी एक ही राष्ट्र में इस प्रकार की घटनाएं दो बार घटित हुई नहीं जानी गयीं क्योंकि जब राष्ट्र अशिष्ट हो तो स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु जब सामाजिक संसाधन उत्साहित हो चुकते हैं तब ऐसा होने की सम्भावना नहीं रहती। उस समय विप्लव इसे विनष्ट कर सकता है परन्तु क्रांति इसे पुनर्जीवित नहीं कर सकती और ज्योंही इसकी जंजीरें टूट जाती हैं यह टुकड़े-टुकड़े होकर गिर जाता है और समाप्त हो जाता है। तदनंतर इसे किसी स्वामी की आवश्यकता होती है, मुक्तिदाता की नहीं। स्वतंत्र राष्ट्रों, इस उक्ति को याद रखो—"स्वतंत्रता उपार्जित की जा सकती है, पुनः प्राप्त कभी नहीं की जा सकती।"

यौवनकाल बचपन नहीं होता। जैसे व्यक्ति के लिए वैसे ही राष्ट्रों के लिए, विधानों को लागू करने को, यौवन की, यदि आप यों कहना चाहें, वयस्कता की प्रतीक्षा करना आवश्यक है। परन्तु राष्ट्र की वयस्कता को पहिचानना सदा आसान नहीं होता और यदि उसमें पूर्वावधारण हो जाय तो कार्य विफल हो जाता है। कोई राष्ट्र तो जन्मतः ही अनुशासित होने को सम्भाव्य होता है, कोई दूसरा छः शताब्दियों पश्चात् भी अनुशासित होने की अर्हता प्राप्त नहीं करता। रूस के लोग वास्तविक रूप में कभी सांस्कृतिक नहीं हो सकते क्योंकि उनमें संस्कृति उत्पन्न करने की कोशिश अति शीघ्र की गयी। पीटर में नकल करने की अपूर्व बुद्धि थी, परन्तु उसमें वह वास्तविक अपूर्व बुद्धि नहीं थी जो शून्य से सब चीज उत्पादित वा निर्मित कर सकती है। उसके कई प्रकार्य लाभदायक थे किन्तु बहुधा समय के प्रतिकूल थे। उसने देखा कि उसकी प्रजा अशिष्ट है, परन्तु वह यह न देख सका कि संस्कृति प्राप्त करने के लिए अपरिपक्व है; वह उन्हें शिष्ट बनाना चाहता था, जबकि उसे उन्हें अनुशासित करना चाहिये था। वह आरम्भ से ही जर्मन और अंग्रेज निर्माण करना चाहता था, जबकि उसे रूसी बनाने की कोशिश करनी चाहिये थी। अपनी प्रजा को जो कुछ वे नहीं थे वह मानने को प्रोत्साहित करने के कारण वह अपनी प्रजा के जो कुछ वह बन

सकती थी, बनने में घातक सिद्ध हुआ। इसी प्रकार फ्रांसी अध्यापक अपने शिष्य को बचपन से ही देदीप्यमान होने को शिक्षित करता परन्तु उसके बाद वह बिलकुल शून्य हो जाता है। रूसी साम्राज्य यूरोप को अधीन करने की इच्छा करेगा और स्वयं दूसरे के अधीन हो जायगा। उसकी आधीनस्थ प्रजा और पड़ोसी तताय लोग उसके और हमारे भी स्वामी हो जायेंगे। मुझे यह क्रांति अनिवार्य लगती है। यूरोप के सब राजा संवादित रूप में इसका त्वरण कर रहे हैं।

परिच्छेद ६

राष्ट्र (२)

जिस प्रकार प्रकृति ने सुडौल मनुष्य के डीलडौल का परिमाण बाँध दिया है, जिस परिमाण के बाहर डीलडौल केवल देवों और बौनों का ही हो सकता है, उसी प्रकार राष्ट्र के सर्वोत्तम निर्माण के सम्बन्ध में भी इसकी सम्भाव्य परिमिति का परिमाण होता है ताकि राष्ट्र इतना बड़ा न हो कि इसका प्रशासन सुविधा से न चल सके और न ही इतना छोटा हो कि वह अपने आपको संस्थापित रखने में कठिनाई अनुभव करे। प्रत्येक राजनीतिक निकाय में शक्ति की अधिकतम मात्रा होती है जो पार नहीं किया जा सकता और जो राज्य की परिमिति बढ़ने के कारण बहुधा घट जाया करती है। सामाजिक क्षेत्र को जितना विस्तृत किया जाय उतना ही वह कमजोर हो जाता है, और साधारणतः छोटा राष्ट्र बड़े राष्ट्र से अनुपाततः अधिक शक्तिशाली होता है।

हजारों दलीलें इस सिद्धांत की सत्यता को प्रदर्शित करती हैं। प्रथमतः फासला अधिक हो जाने से प्रशासन अधिक कठिन हो जाता है जैसे 'लीवर' की लम्बाई अधिक हो जाने से भार गुरुतर हो जाता है। राष्ट्रीय अंगों की वृद्धि के अनुपात से प्रशासन अधिक भारप्रद होता जाता है, क्योंकि प्रत्येक नगर का अपना प्रशासनीय ढाँचा होता है जिसका व्यय उसे बर्दाश्त करना पड़ता है; प्रत्येक मंडल का अपना जिसका खर्च भी उन्हीं लोगों को बर्दाश्त करना पड़ता है और तदन्तर प्रत्येक प्रांत तथा वरिष्ट सरकारों, मंडलेश्वरों, उपराजकों का, जिनका व्यय भी अधिकार की पराकाष्ठा के क्रम से बढ़ी ही मात्रा में, इन्हीं अभागे लोगों को वहन करना पड़ता है; अंत में सर्वोच्च प्रशासीतंत्र होता है जिससे सब अभिप्लुत हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक असाधारण भार प्रजा को निरंतर उत्श्रावित करते हैं, फलत. समस्त विभिन्न अधिकारीवृन्द द्वारा सुशासित होनेकी अपेक्षा प्रजा अविभक्त वरिष्टाधिकारी होनेके मुकाबले में अधिक बुरी तरह शासित होती है। आकस्मिक संकटोंकेनिवारणार्थ ऐसे राष्ट्र में कोई

संसाधन नहीं रहते हैं, और जब इन संसाधनों की आवश्यकता पड़ जाती है तो राष्ट्र विनाश के तट पर स्थित होता है।

केवल इतना ही नहीं, न केवल शासन विधानों को मनवाने, प्रवाधनों को अवरुद्ध करने, कुव्यवहारों को सुधारने और दूरस्थित स्थानों पर राजद्रोही चेष्टाओं को पूर्वविधानित करने में कम सक्रिय और ओजस्वी रह जाता है, बल्कि लोगों का स्नेह अपने अधिकारी वर्ग के प्रति जिन्हें वे कभी देख ही नहीं पाते, अपने देश के प्रति जो उनकी दृष्टि में विश्व के बराबर प्रतीत होता है, और अपने देश-बन्धुओं के प्रति, जो उन्हें बहुधा अज्ञात प्रतीत होते हैं, कम हो जाता है। जब इन प्रान्तों के रीति-रिवाज विभिन्न हों, जलवायु अलग-अलग हो और उनके लिए उसी शासकीय पद्धति का मान्य करना सम्भव न हो, तो ऐसी स्थिति में समान विधान विभिन्न प्रान्तों के लिए उपयुक्त नहीं होते। एक ही वरिष्ठाधिकारी के अधीन और एक दूसरे से निरंतर सम्पर्क में होते हुए, एक दूसरे से मिलते हुए और अंतर्विवाह करते हुए लोगों में विभिन्न विधानों द्वारा केवल कठिनाई और विभ्रम उत्पन्न होता है, क्योंकि विभिन्न रूढ़ियों के अधीन होने से उन्हें यह भी पता नहीं लगता कि उनकी विरासत उनकी अपनी है या नहीं। उस जनसमूह में जो एक दूसरे से अनभिज्ञ हैं और जिसे सर्वोच्च अधिकारी द्वारा एक स्थान पर एकत्रित कर लिया गया है, योग्यताएँ आवरित रहती हैं, गुण उपेक्षित रहते हैं और दोष अदण्डित रह जाते हैं। प्रमुख अधिकारी कार्य से अभिलुप्त होने के कारण स्वयं कुछ नहीं देख सकते, राज्य पर अधिनस्थ कर्मचारी शासन करने लग जाते हैं। अन्त में, समस्त सार्वजनिक ध्यान उन साधनों पर केन्द्रित हो जाता है जिन्हें इतने अनेक अधिकारियों के दूरस्थित होने के कारण सामान्य प्रभुत्व को अपवंचित तथा आक्रमित करने से अवरुद्ध करने के लिए लेना अनावश्यक होता है; लोकहित कार्य करने का उतना महत्व नहीं रहता, न ही जरूरत के समय देश की रक्षा का ध्यान रहता है। इस प्रकार जो राष्ट्र अपने गठन के परिमाण से अत्यधिक बड़ा होता है वह अपने ही भार के कारण डूब जाता और नष्ट हो जाता है।

दूसरी ओर राष्ट्र को स्थायित्व धारण करने के लिए, उन आघातों को अवरुद्ध करने के लिए, जो अनिवार्यत: आने ही वाले हैं और उन कार्यों को स्थिर करने के लिए जो स्थायित्व कायम रखने के लिए करने ही पड़ेंगे, एक स्थिर नींव का प्राप्त करना आवश्यक है क्योंकि देवक्रात के जलभँवरों की तरह समस्त राष्ट्रों में एक केंद्रापग बल होता है जिसके कारण वे निरंतर एक दूसरे के विरुद्ध कार्यशील होते हैं और अपने पड़ोसियों के व्यय पर अपनी सत्ता बढ़ाने की आकांक्षा करते हैं। इसलिए निर्बलों को

यह भय होता है कि वे शीघ्र अन्यों द्वारा हड़प न कर लिये जावें और कोई भी अपने आपको ऐसी साम्य दशा में स्थापित किये बिना जिसके फलस्वरूप सब स्थानों पर सम्पीड़न एक-सा हो जाय, अपने स्थायित्व को देर तक रक्षित नहीं कर सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसरण और संकोचन दोनों के अलग-अलग कारण होते हैं और राजनीति की योग्यता की यह न्यूनतम कसौटी है कि वह दोनों अर्थात् प्रसरण और संकोचन में राष्ट्र के संरक्षण के हेतु उपयोगित में अनुपात मालूम कर सके।

साधारणत: यह कहा जा सकता है कि प्रसार बाह्य और सापेक्ष होने के कारण संकुचन के अधीन रखना चाहिये, जो आन्तरिक तथा सम्पूर्ण होता है। सबसे पहली तलाश की वस्तु स्वस्थ एवं दृढ़ संविधान होता है और उन संसाधनों की अपेक्षा जो विस्तृत क्षेत्र से उपलब्ध होते हैं, हमें सुशासन से व्युत्पन्न होनेवाले ओज पर अधिक विश्वास रखना चाहिये।

परन्तु राष्ट्रों का निर्माण इस प्रकार भी हुआ है कि उनके गठन में ही विजय करने की आवश्यकता निहित थी और अपने आपको संस्थापित रखने के लिए उन्हें निरंतर प्रसार की नीति अपनानी पड़ी। हो सकता है कि इस सुखद आवश्यकता से उन्हें हर्ष मिला हो, परन्तु इसी आवश्यकता ने उन्हें प्रदर्शित किया होगा कि उनकी पराकाष्ठा का क्षण ही अनिवार्यरूप से उनके पतन का आरम्भ था।

परिच्छेद १०

राष्ट्र (३)

कोई संगठित राज्य दो रीतियों से मापा जा सकता है, अर्थात् उसके क्षेत्र के विस्तार द्वारा तथा दूसरा उसकी प्रजा की संख्या द्वारा। इन दोनों मापों की रीतियों में एक औचित्य का सम्बन्ध होता है जिसके अनुसार राज्य के विस्तार का वास्तविक परिमाण निश्चित किया जा सकता है। राज्य का निर्माण मनुष्यों द्वारा होता है, मनुष्य भूमि द्वारा पोषित होते हैं, इसलिए उचित सम्बन्ध यह होगा कि भूमि इस पर रहनेवाली प्रजा के ठीक निर्वाह के लिए पर्याप्त हो और प्रजा इतनी हो जितनी भूमि से पोषित हो सके। इसी अनुपात द्वारा किसी निश्चित प्रजा की अधिकतम शक्ति का पता चल सकता है, क्योंकि यदि भूमि अत्यधिक हो तो उसकी देखभाल कष्टदायक हो जायगी, कृषि अपर्याप्त रहेगी और उपज आवश्यकता से अधिक होगी। यह दशा रक्षात्मक लड़ाइयों का आगामी कारण है। यदि भूमि पर्याप्त मात्रा में न हो, तो राज्य को निर्वाहपूर्ति के लिए अपने पड़ोसियों पर निर्भर होना पड़ता है और यह दशा आक्रमणात्मक लड़ाइयों का आगामी कारण है। कोई भी राष्ट्र, जिसके सामने अपनी स्थिति के कारण वाणिज्य और लड़ाई में विकल्प रहता है, स्वतः कमजोर होता है, यह अपने पड़ोसियों पर और घटनाओं पर निर्भर रहता है, इसका जीवन अवश्य ही अल्पकालीन और अनिश्चित होता है। या तो यह दूसरे देशों को जीतकर अपनी स्थिति को बदलता है, नहीं तो यह दूसरों द्वारा विजित होकर विनष्ट हो जाता है। यह अपनी स्वतंत्रता को छोटा अथवा बड़ा बनकर ही संस्थापित कर सकता है।

भूमि विस्तार और प्रजा-संख्या के विस्तार के सम्बन्ध को किसी निश्चित संख्यात्मक रूप में अभिव्यक्त करना असम्भव है, क्योंकि भूमि के गुणों में, उसकी उर्वरता की मात्रा में, उसकी उपज के प्रकार में और जलवायु के प्रभाव में अंतर होते हैं; साथ ही भूमि पर निवास करनेवाली प्रजा के स्वभाव में भी अंतर होता है क्योंकि उपजाऊ

देश में लोग कम उपभोग करनेवाले और अनुपजाऊ भूमि पर अधिक उपभोग करनेवाले हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी विचारणीय बातें होती हैं, स्त्रियों की अत्यधिक अथवा न्यून संतानोत्पत्ति की शक्ति, देश के हालात अर्थात् वे जनसंख्या के लिए अधिक या कम अनुकूल हैं, और विधिकर अपने द्वारा स्थापित की हुई संस्थाओं से लोगों की कितनी संख्या देश में आकर्षित करने की आशा कर सकता है, इस निर्णय का आधार वे तथ्य नहीं होने चाहिये जो आज दिखाई देते हैं परन्तु वे जिनके होने की आशा की जा सकती हो; लोगों की वर्तमान स्थिति का अवलोकन कम किया जाना चाहिये, अधिक उसका अवलोकन किया जाना चाहिये जो स्वाभाविक रूप से निर्मित होनेवाली है। संक्षेप में, हजारों ऐसे प्रसंग होते हैं जहाँ स्थिति के विशिष्ट तथ्यों की यह माँग होती है, अथवा वे यह अनुमति देते हैं कि जितना क्षेत्र आवश्यक दीखता हो उससे अधिक लिया जाना चाहिये, उदाहरणार्थ पहाड़ी क्षेत्र में लोग अधिक प्रसारित होंगे क्योंकि वहाँ प्राकृतिक उपज अर्थात् वन और मरुस्थल को श्रम की कम आवश्यकता होती है और वहाँ अनुभव के आधार पर यह सिद्ध है कि स्त्रियों की संतानोत्पत्ति की शक्ति मैदानों की अपेक्षा अधिक होती है और वहाँ विस्तृत और ढालू तल पर केवल एक क्षैतिज्य आस्थान होता है जिस पर सब्जी इत्यादि पैदा हो सकती है। इसके विपरीत लोग समुद्रतट पर चट्टानों और रेतीली भूमि के बीच में, जो प्राय: अनुपजाऊ होती है, छोड़े क्षेत्र में भी निवास कर सकते हैं, क्योंकि बहुत हद तक मत्स्योद्योग भूमि-उपज की कमी को पूरा कर सकता है, साथ ही लोगों को समुद्र-दस्युओं को दूर हटाने के लिए संकेंद्रित होने की अधिक आवश्यकता होती है और यदि देश में अति जन-संख्या हो जाय तो उपनिवेशों द्वारा उसे निवारित करने की अधिक सुविधा होती है।

राष्ट्र को स्थापित करने के लिये उपरोक्त अवस्थाओं में एक और को जोड़ना अत्यावश्यक है, जिसका स्थान कोई और नहीं ले सकती और जिसके बिना यह सब अवस्थाएं निष्फल हो जाती हैं। वह है प्रजा द्वारा प्रचुरता तथा शांति का उपभोग करना, क्योंकि राज्य के निर्माण का समय सिपाहियों को बटेलियन में एकत्रित करने की तरह वह होता है जब निकाय में रोध की शक्ति न्यूनतम होती है और उसे विनष्ट करना सरलतम होता है। रोध-शक्ति उबाल की अपेक्षा सम्पूर्ण अव्यवस्था के समय अधिक होती है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सर्वसाधारण के खतरे की अपेक्षा अपने निजी क्रम की अधिक चिन्ता करता है। यदि ऐसे क्षण पर युद्ध अथवा अकाल या राजद्रोह आ पड़े तो राज्य अनिवार्य रूप से उलट जायगा।

इन तूफानी क्षणों में बहुत नये शासन बन सकते हैं परन्तु यही शासन राज्य को विनष्ट करने का कारण बनते हैं। बलाधिकारी सदा संकटकालीन परिस्थिति का निर्माण करते हैं अथवा ऐसे समय की प्रतीक्षा करते हैं कि वे सार्वजनिक उत्पात की आड़ में ऐसे विनाशकारी विधान बना सकें जिन्हें जनता शांत समय में कभी अभिगहन करने को उद्यत न होगी। शासन स्थापित करने के समय का निरूपण ही दृढ़तम लक्षण है जिससे विधिकार और अत्याचारी के कार्य में भेद किया जा सकता है।

विधान प्रयुक्ति के लिए कौन राष्ट्र ठीक होता है ? वह राष्ट्र जो किसी उद्भव के सम्मिलन अथवा रूढ़ि द्वारा पहले ही संघटित हो परंतु जिसने अभी तक विधानों के वास्तविक जुए को ग्रहण न किया हो; वह राष्ट्र जिसमें न रूढ़ियों का और न मूढ़ विश्वासों का पक्की तरह से बीजारोपण हुआ हो; वह राष्ट्र जिसे आकस्मिक आक्रमण से अभिप्लावित होने का भय न हो; अर्थात् जो अपने पड़ोसियों के झगड़ों में प्रविष्ट ए बिना या तो प्रत्येक अन्य का अकेले ही प्रतिकार कर सकता है अथवा एक की सहायता से दूसरे को पीछे हटा सकता है; वह राष्ट्र जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सम्भवतः एक दूसरे को जानता है और जिसमें किसी पर उसकी वहन-शक्ति से अधिक भार डालने की आवश्यकता नहीं पड़ती है; वह राष्ट्र जो दूसरे राष्ट्रों की मदद के बिना निर्वाह कर सकता है और जिसकी मदद के बिना प्रत्येक दूसरे राष्ट्र निर्वाह कर सकते हैं; वह राष्ट्र जो न गरीब है और न अमीर, बल्कि आत्मनिर्भर है, और अंत में वह राष्ट्र जिसमें पुराने राष्ट्र की भाँति स्थायित्व का मेल नये राष्ट्र की शिक्षितव्यता से होता है, जो विधानीकरण को दुष्कर बनाता है वह कारण क्या स्थापित करना है इसमें कम परंतु क्या विनष्ट करना है इसमें अधिक निहित होता है, और इस काम में सफलता इसलिए दुर्लभ होती है कि प्रकृति की सरलता का सम्मिश्रण समाज की आवश्यकताओं के साथ होना असम्भव है। यह ठीक है कि उपरोक्त समस्त परिस्थितियाँ आसानी से एकत्रित नहीं होतीं इसीलिए सुसंगठित राज्य कम दिखाई देते हैं।

यूरोप में अब भी एक ऐसा देश है जिसमें विधानीकरण होना सम्भव है। यह कोर्सिका का द्वीप है। इस बहादुर राष्ट्र ने जिस साहस और दृढ़ता से अपनी स्वतंत्रता को पुनः[१] प्राप्त किया तथा प्रतिरक्षित किया वह इसे इसका पात्र बनाती है कि कोई

[१] **यदि किन्हीं दो पड़ोसी राष्ट्रों में एक का दूसरे के बिना निर्वाह न होता हो तो पहले राष्ट्र के लिए परिस्थिति बहुत कठिन होती है, और दूसरे के लिए बहुत भयावह। प्रत्येक बुद्धिमान राष्ट्र ऐसी स्थिति में दूसरे राष्ट्र को इस अवलम्बिता से शीघ्रातिशीघ्र**

बुद्धिमान व्यक्ति इसे यह सिखाये कि स्वतंत्रता को संरक्षित कैसे किया जा सकता है। मुझे यह लगता है कि यह छोटा द्वीप एक दिन समस्त यूरोप को विस्मित करेगा।

मुक्त करने का प्रयत्न करेगा। थासकला गणराज्य ने, जो मैक्सिको के साम्राज्य द्वारा समावृत्त था, मैक्सिकोवालों से नमक खरीदने अथवा मुफ्त लेने की अपेक्षा नमक के बिना निर्वाह करना अधिमान्य किया। थासकला के बुद्धिमान लोगों को इस उदारता में एक गुप्त छल लगता था। उन्होंने अपने आपको स्वतंत्र रखा, और यह छोटा राज्य जो उस बड़े राज्य में समावृत था, अंत में उस साम्राज्य के नाश का निमित्त बन गया।

परिच्छेद ११

विधानीकरण की विभिन्न शैलियाँ

यदि हम खोज करें कि समस्त जनता का अधिकतम हित, जो कि विधानीकरण की समस्त शैलियों का उद्देश्य होना चाहिये, यथार्थ रूप में क्या है तो हमें पता चलेगा कि यह दो मुख्य प्रयोजनों में आकलित होता है, प्रथम उन्मुक्ति और दूसरे समता। उन्मुक्ति इसलिये क्योंकि व्यक्तिगत परतंत्रता से उसी मात्रा में राज्य की आकलित शक्ति का ह्रास होता है, और समानता इसलिये कि उन्मुक्ति समानता के बिना जीवित नहीं रह सकती।

मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि जानपद उन्मुक्ति का क्या अर्थ है, जहाँ तक समानता का सम्बन्ध है, इस शब्द का अर्थ यह नहीं होता कि शक्ति और धन की मात्रा पूर्णरूपेण समान हो, बल्कि यह कि जहाँ तक शक्ति का सम्बन्ध है, यह बिलकुल हिंसात्मक नहीं होनी चाहिये और केवल विधान तथा पद के अनुसार प्रयुक्त होनी चाहिये, इसी तरह जहाँ तक धन का संबंध है, कोई नागरिक इतना धनी नहीं होना चाहिये कि वह दूसरे को क्रय कर सके और न कोई इतना दरिद्र होना चाहिये कि वह अपने आपको विक्रय करने को बाध्य हो जाय। यह सम्भाव्य होने के लिये बड़ों में सम्पत्ति तथा प्रभाव की अनतिता और साधारण नागरिकों में लोभ और लालसा का निरोध आवश्यक होता है।

सर्वसाधारण की यह धारणा है कि समानता परिकल्पना का एक भ्रम मात्र है जिसका व्यावहारिक कार्यों में अस्तित्व नहीं होता। परन्तु यदि कुप्रयोग अनिवार्य है तो क्या इसका यह अर्थ है कि इसे विनियमित करने तक की चेष्टा अनावश्यक है? क्योंकि परिस्थितियों का प्रभाव समता को निरंतर विनष्ट करने में प्रवृत्त करता है, यथार्थ में इसी लिये विधान का प्रभाव समता को संधारण करने में मददगार होना चाहिये।

परन्तु प्रत्येक हितकारी संस्था का उपर्युक्त साधारण प्रयोजन, प्रत्येक देश में वहाँ की स्थानीय स्थिति तथा निवासियों के चरित्र से उत्पादित संबंधों द्वारा संपरिर्वातित हो जाना अनिवार्य है और सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए यह परमावश्यक हो जाता है कि हम प्रत्येक राष्ट्र के लिये विशिष्ट संस्था-पद्धति को निर्धारित करें जो चाहे स्वत: सर्वोत्तम न हो, परन्तु उस राज्य के लिये जिसके लिये यह निर्मित की गई है, सर्वोत्तम होगी। उदाहरणार्थ, यदि भूमि अनुपजाऊ और ऊसर हो, अथवा देश अपने निवासियों के लिये बहुत छोटा होता हो तो कला और निर्माण की ओर ध्यान दो, ताकि उत्पादित वस्तुओं का आवश्यक खाद्य पदार्थों से विनिमय किया जा सके। दूसरी ओर, यदि देश समृद्ध समतल भूमि और उर्वरा ढलवानी क्षेत्रों पर व्याप्त हो, अथवा उपजाऊ क्षेत्र में यदि निवासी प्रजा की कमी प्रतीत हो तो अपना सम्पूर्ण ध्यान कृषि पर केन्द्रित करो जिससे जनसंख्या बढ़ती है, और कला को बाहर निकालो जिसके कारण देश में रहनेवाले थोड़े से लोगों के चंद प्रदेशों पर एकत्रित हो जाने से देश सर्वथा निर्जनसभ हो जायगा। यदि तुम्हारा देश विस्तृत और सुगम समुद्रतट पर व्याप्त हो तो समुद्र पर जहाज चलाओ और वाणिज्य और नाववाहन का पोषण करो। इससे देश का स्थायित्व अल्प कालीन परंतु देदीप्यमान होगा। यदि तुम्हारे तट के समीप समुद्र केवल अनभिगम्य शिलाओं से टकराता हो तो तुम मत्स्याहारी गँवार ही रहो। ऐसा करने से तुम्हारा जीवन अधिक शांतिमय, सम्भवत. ज्यादा अच्छा परन्तु निश्चित रूप से अधिक सुखकारी होगा। एक शब्द में, सर्वमान्य सिद्धांतों के अतिरिक्त प्रत्येक राष्ट्र अपने आप में कोई ऐसा निमित्त धारण करता है जो उसे एक विशिष्ट प्रकार से प्रभावित करता है और उसके विधानों को केवल अपने लिये ही उपयुक्त बना देता है। इस प्रकार प्राचीन युग में यहूदी और वर्तमान युग में अरब लोगों का मुख्य प्रयोजन धर्म था, एथेन्स के लोगों की कला, कार्थेज और टायर के लोगों का वाणिज्य, रोड्स के लोगों का नाववाहन, स्पार्टा के लोगों का युद्ध और रोम के लोगों का पराक्रम। L' Esprit de dois के लेखक ने अनेकानेक उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित किया है कि विधिकार किस किस कला द्वारा किसी संस्था को प्रत्येक प्रयोजन की ओर निर्दिष्ट कर लेता है।

किसी राज्य का संविधान यथार्थ में तभी दृढ़ और दीर्घजीवी हो सकता है जब उसके बनाने में सुगमता का सिद्धान्त इस प्रकार समक्ष रखा गया हो कि प्राकृतिक सम्बन्धों एवं विधानों का सम्मिलन समान बिन्दुओं पर ही हो और विधान प्राकृतिक सम्बन्धों को केवल सुरक्षित, सर्मपित और संशोधित ही करते हों। परंतु यदि विधिकर अपने उद्देश्य को ठीक न समझने के कारण, प्राकृतिक तथ्यों से उत्पादित होनेवाले सिद्धांत के

तिरिक्त किसी सिद्धान्त को धारित करता है अथवा यदि एक का झुकाव अधीनता ा ओर दूसरे का उन्मुक्ति की ओर, एक का धन की और दूसरे का जनसमूह की ओर, क का शांति की ओर और दूसरे का विजय की ओर हो, तो हम देखेंगे कि अप्रत्यक्ष प से विधान अशक्त हो जायेंगे, संविधान परिवर्तित हो जायगा और राज्य लगातार ान्दोलित रहेगा जब तक कि वह विनष्ट अथवा बदल नहीं जाता और अजेय प्रकृति ापना प्रभुत्व प्राप्त नहीं कर लेती।

नोट–१ इसलिये यदि आप राज्य को स्थायित्व प्रदान करना चाहते हों तो दोनों नितांतताओं को एक दूसरे के इतना समीप ले आओ जितना संभाव्य हो सके, न धनिक लोगों को और न भिक्षुओं को सहन करो। उपर्युक्त दोनों स्थितियाँ जो प्रकृतितः एक दूसरी से पृथक् नहीं हो सकतीं, सर्वसाधारण हित को समानतः घातक होती हैं। प्रथम श्रेणी से अत्याचार की उत्पत्ति होती है, दूसरी श्रेणी से अत्याचारी का समर्थन करनेवाले की। इन्हीं दो श्रेणियों के बीच जन उन्मुक्ति का यातायात होता रहता है, एक उसे क्रय करता है एवं दूसरा विक्रय।

नोट–२ मार्क्विस दार्गासों का कथन है कि साधारणतः विदेशी वाणिज्य की कोई शाखा राज्य को मायावी लाभ ही प्रदान कर सकती है। यह कुछ विशिष्ट व्यक्तियों अथवा कुछ नगरों को लाभदायक हो सकता है, किन्तु समस्त राष्ट्र इससे कोई लाभ नहीं उठाता और जनता इसके कारण अधिक सम्पन्न नहीं होती।

परिच्छेद १२

विधानों का विभिन्नीकरण

सब वस्तुओं को विनियमित करने के लिये और समधिराज्य को सुन्दरतम रूप देने के लिये कतिपय संबंध विचारणीय होते हैं। प्रथम समस्त निकाय की अपने ही प्रतिक्रिया अर्थात् समस्त का समस्त से संबंध अर्थात् प्रभु का राज्य से संबंध और इस संबंध के अन्तर्गत कई अन्तस्थ मर्यादाएँ होती हैं, जैसे हम अभी देखेंगे।

जो विधान इस उपर्युक्त संबंध को निश्चित करते हैं उनका नाम राजनीतिक विधान होता है, उन्हें मूल विधान भी कहा जाता है और यदि वे विधान बुद्धियुक्त हों तो यह नाम अनुपयुक्त नहीं है। क्योंकि यदि किसी राज्य को विनियमित करने की केवल एक विशिष्ट ही रीति है तो जिस राष्ट्र ने उसे परास्त कर लिया हो उसके लिये उसे दृढ़ता से धारण करना ही उपयुक्त है, परन्तु यदि प्रतिष्ठापित व्यवस्था खराब हो, उन विधानों को जो इसे अच्छा बनने में बाधक हैं, मूल विधान क्यों माना जाय ? इसके अतिरिक्त प्रत्येक दशा में हर राष्ट्र को अपने विधानों को बदलने की स्वतंत्रता होती है, अच्छे विधानों को भी बदलने की, क्योंकि यदि कोई राष्ट्र अपनी क्षति करना चाहता हो तो उसे ऐसा करने से रोकने का किसे अधिकार है ?

दूसरा संबंध सदस्यों का एक दूसरे के प्रति अर्थात् समस्त निकाय के साथ होता है और उचित यह है कि यह संबंध दूसरे सदस्यों के प्रति संकुचिततम और समस्त निकाय के प्रति विस्तृततम हो, ताकि प्रत्येक नागरिक दूसरे नागरिकों से पूर्णरूपेण स्वतंत्र हो सके और राज्य के अनन्य रूप से अधीन हो सके। और इन दोनों की प्राप्ति के एक ही साधन हैं, क्योंकि राज्य की शक्ति द्वारा ही नागरिकों की स्वतंत्रता परिरक्षित की जा सकती है। इस दूसरे संबंध से व्यावहारिक विधानों का उद्भव होता है।

हम एक तीसरे प्रकार के संबंध पर भी विचार कर सकते हैं, वह होता है नागरिक और विधान के बीच में। इसका नाम है दंडनीय आज्ञा-उल्लंघन का संबंध,

और इससे दंड विधान की स्थापना होती है, जो वास्तव में विधानों का कोई विशिष्ट वर्ग नहीं होता बल्कि दूसरे समस्त विधानों का आश्रय होता है।

इन विधानों के उपर्युक्त तीन वर्गों में एक चौथा वर्ग भी जुड़ सकता है जो इन सबसे महत्त्वपूर्ण है और जो न संगमरमर पर और न पीतल पर खुदा हुआ है बल्कि नागरिकों के हृदयों में अंकित होता है। यह वह विधान है जिसके द्वारा राज्य के यथार्थ संविधान की उत्पत्ति होती है, जो प्रतिदिन नवीन स्फूर्ति प्राप्त करता है और जो जब दूसरे विधान जीर्ण अथवा अचलित हो जाते हैं उन्हें पुनर्जीवित करता है अथवा उनकी जगह अन्य प्रतिस्थापित कर देता है, प्रजा को उनकी संस्थाओं के सत्व में परिरक्षित करता है और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभुत्व के स्थान पर व्यवहारबल प्रतिस्थापित कर देता है। मेरा तात्पर्य आचार, व्यवहार और सर्वोपरि मत से है और यह वह क्षेत्र है जिसे हमारे राजनीतिज्ञ जानते तक नहीं, परंतु जिस पर अन्य सब आधारों की सफलता निर्भर होती है। महान् विधिकर इस क्षेत्र का वैयक्तिक रूप से अनुसंधान करता है जब कि प्रत्यक्ष में उसका ध्यान विशिष्ट नियमों में सीमित होता है, जो केवल गुम्बज की चाप की तरह हैं और जिनकी स्थिर आधारशिला व्यवहार होता है, इस व्यवहार को उत्पादित होने में समय लगता है।

उपर्युक्त विभिन्न वर्गों में से केवल राजनीतिक विधान ही, जो शासकीय पद्धति को संस्थापित करते हैं, मेरे विषय से संबंधित हैं।

पुस्तक ३

शासन के विभिन्न रूपों का विवेचन करने से पूर्व शासन शब्द का स्पष्ट अर्थ स्थापित करना आवश्यक है। इस शब्द की अभी तक स्पष्ट व्याख्या नहीं हुई है।

परिच्छेद १

शासन, साधारण अर्थ में

मैं अपने पाठकों को चेतावनी देता हूँ कि वह इस परिच्छेद को ध्यानपूर्वक पढ़ें, मुझे उन लोगों को समझाने की कला नहीं आती जो ध्यानपूर्वक पढ़ने के इच्छुक नहीं हैं ।

प्रत्येक स्वतंत्र कार्य के दो कारण होते हैं जो सम्मिलित रूप में इसका निर्माण करते हैं, प्रथम नैतिक अर्थात् वह प्रेरणा जिसके द्वारा वह कार्य निर्णीत होता है, दूसरा भौतिक अर्थात् वह बल जिसके द्वारा वह कार्य संपादित होता है । जब मैं किसी वस्तु की तरफ चलता हूँ, तो सर्वप्रथम मुझे चलने की प्रेरणा होनी चाहिये, द्वितीयतः मेरे पगों में मुझे उसके समीप ले जाने का बल होना आवश्यक है । यदि कोई स्तम्भ-रोगी दौड़ने का आकांक्षी हो, अथवा सचेष्ट मनुष्य ऐसा करने का अभिलाषी न हो, तो दोनों जहाँ हैं वहीं स्थित रहेंगे । राजकीय निकाय की भी यही प्रेरक शक्तियाँ होती ह, इसमें भी बल और प्रेरणा की भिन्नता होती है । प्रेरणा का नाम विधायी शक्ति और बल का नाम अधिशासी शक्ति होता है । उन दोनों के सहयोग के बिना इस निकाल में न कुछ होता है और न कुछ होना चाहिये ।

यह हम देख चुके हैं कि विधायी शक्ति लोगों में निहित होती है और केवल इन्हीं में निहित हो सकती है । इसके विरुद्ध पूर्व में स्थापित सिद्धान्तों के आधार पर यह देखना सरल है कि अधिशासी शक्ति विधायी अथवा सार्वजनिक शक्ति की तरह सामान्य लोगों में निहित नहीं हो सकती, क्योंकि विधायी शक्ति केवल उन्हीं विशिष्ट कार्यों में प्रन्यासित होती है जो विधान के अन्तर्गत नहीं आते और परिणामस्वरूप सार्वभौमिक सत्ता के अन्तर्गत नहीं आते, सार्वभौमिक सत्ता के समस्त कार्य विधान होते हैं ।

इसलिये सार्वजनिक बल के लिये एक ऐसे अनुरूपकारक की आवश्यकता होती है जो इसे एकाग्र कर सके और सर्वसाधारण प्रेरणा के निर्देशनों के अनुसार कार्यान्वित कर सके, जो राज्य और सार्वभौमिक सत्ता के बीच यातायात का साधन बना सके

और जो सार्वजनिक निकाय में भी मनुष्य निकाय की भाँति किसी न किसी प्रकार जीव और देह का सम्मिलन स्थापित कर सके। राज्य में शासन का यही कर्त्तव्य होता है जिसे कई बार गलती से सार्वभौमिक सत्ता के साथ सम्भ्रमित कर दिया जाता है, हालाँकि यह सार्वभौमिक सत्ता का केवल एक सहायक होता है।

तो यथार्थ में शासन होता क्या है ? यह उस अंतस्थ निकाय का नाम है जो प्रजा और सार्वभौमिक सत्ता के बीच पारस्परिक यातायात के हेतु स्थापित की जाती है और उसका कर्त्तव्य होता है विधानों को सम्पादित करना और सामाजिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता को परिरक्षित करना।

इस निकाय के सदस्य दंडाधिकारी अथवा राजा अर्थात् शासक कहलाते हैं और समस्त निकाय का नाम शासनाधिकारी होता है। इसलिये यह प्रतिपादित करने-वाले बिलकुल ठीक हैं कि जिस क्रिया द्वारा लोग अपने आपको राजकों के अधीन कर लेते हैं वह क्रिया पाषण का अंग नहीं होती। यह क्रिया तो केवल आज्ञामात्र है, अर्थात् सेवायुक्ति है, जिसके अन्तर्गत सार्वभौमिक सत्ता के सामान्य कर्मचारियों के रूप में वह लोग इसके नाम से वह शक्ति सम्पादित करते हैं जो सार्वभौमिक सत्ता ने इनमें निक्षिप्त कर दी है और जिसे सार्वभौमिक सत्ता, जब वह चाहे, सीमित कर सकती है, बदल सकती है और पुनर्ग्रहण कर सकती है। इस अधिकार का स्थायी रूपमें अन्धक्रामण कर देना सामाजिक निकाय के स्वभाव के प्रतिकूल होता है और साहचर्य के प्रयोजन के विरुद्ध होता है।

इसी लिये मैं शासन अथवा वरिष्ट प्रशासनाधिकार अधिशासक शक्ति के न्यायसंगत प्रयोग को कहता हूँ, और शासनाधिकारी अथवा दंडाधिकारी उस मनुष्य अथवा निकाय को कहता हूँ जो उपर्युक्त प्रशासन से प्रवृत्त होती है।

शासन में ही वे अन्तस्थ शक्तियाँ होती हैं जिनके पारस्परिक संबंधों में समस्त निकाय का समस्त के प्रति और सार्वभौमिक सत्ता का राज्य के प्रति संबंध प्रदर्शित होता है। यह अंतिम संबंध सिलसिलेवार अनुपात के चरम बिन्दुओं के पारस्परिक संबंध द्वारा भी निरूपित किया जा सकता है जिसका अनुपाती तुल्य बिन्दु शासन होगा। शासन स्वयं सार्वभौमिक सत्ता से वे आदेश प्राप्त करता है जो वह लोगों को देता है, और राज्य को स्थायी साम्य देने के लिये यह आवश्यक है कि सब वस्तुओं के संतोलन के हेतु स्वतः शासन के निजी उत्पादन तथा शक्ति और नागरिकों के उत्पादन तथा शक्ति में समता हो, नागरिक एक रूप में सार्वभौमिक सत्ता और दूसरे में प्रजा होते हैं।

अपरंच, उपर्युक्त तीनों शब्दों को उनका पारस्परिक अनुपात विनष्ट किये बिना परिवर्तित नहीं किया जा सकता। यदि सार्वभौमिक सत्ता प्रशासन करने लगे अथवा दंडाधिकारी विधानीकरण करने लगे अथवा प्रजा आज्ञानुशासन से इनकार करे तो व्यवस्था के स्थान पर अव्यवस्था हो जायगी, बल और प्रेरणा में पारस्परिक मेल नहीं रहेगा और राज्य का विलयन होने से एकाधिकार अथवा अराजकता स्थापित हो जायगी। अन्त में, क्योंकि प्रत्येक संबंध के बीच एक ही अनुपाती संतोलन विन्दु होता है इसलिये राज्य में केवल एक ही अच्छा शासन संभव होता है। परन्तु चूँकि लोगों के संबंध हजारों घटनाओं द्वारा परिवर्तित हो सकते हैं इसलिये भिन्न शासन भिन्न राष्ट्रों के लिये अथवा भिन्न समय में उसी राष्ट्र के लिये उत्तम सिद्ध हो सकते हैं।

दो चरम सीमाओं के बीच क्या भिन्न संबंध हो सकते हैं, इसकी कल्पना देने के लिये मैं लोगों की संख्या का एक उदाहरण लूँगा क्योंकि इस संबंध की व्यवस्था सुगमतम होगी।

हम यह मानकर चलें कि राज्य में दस हजार नागरिक हैं। सार्वभौमिक सत्ता को केवल सम्मिलित और निकाय के रूप में ही कल्पित किया जा सकता है परन्तु प्रत्येक वैयक्तिक मनुष्य को प्रजा के रूप में व्यक्ति कल्पित किया जाता है। इसलिये सार्वभौमिक सत्ता और प्रजा का संबंध दस हजार और एक के अनुपात से होता है, अर्थात् राज्य का प्रत्येक सदस्य सार्वभौमिक सत्ता के दस हजारवें भाग का ही अधिकारी होता है, चाहे वह सार्वभौमिक सत्ता के सर्वथा अधीन भी हो। यदि राष्ट्र में एक लाख मनुष्य हों तो प्रजा की स्थिति तो नहीं बदलती और प्रजा का हर सदस्य विधानों की समस्त शक्ति के आधीन होता है, परन्तु विधानों के निर्माण में उसके मत का प्रभाव, एक लाखवाँ भाग हो जाने के कारण, दसगुना कम हो जाता है। इसलिये, प्रजा सदा एक इकाई होने के कारण सार्वभौमिक सत्ता का अनुपाती संबंध नागरिकों की संख्या के अनुसार बढ़ जाता है, जिसका यह अर्थ है कि जितना अधिक राज्य का विस्तार हो जाता है उतनी ही अधिक स्वतंत्रता की क्षति होती है।

जब मैं कहता हूँ कि अनुपाती संबंध बढ़ जाता है तो मेरा अर्थ यह है कि यह समता से अधिक दूर हो जाता है। इसलिये रेखकीय अभिप्राय से जितना संबंध अधिक होगा उतना ही सामान्य अनुमोदन से कम होगा, प्रथम दशा में संबंध संख्या के आधार पर कल्पित होने के कारण संपरीक्षा द्वारा मानित किया जाता है और दूसरी दशा में ऐक्यात्म के आधार पर कल्पित होने के कारण संबंध समानता से मानित किया जाता है।

इसलिये विशिष्ट प्रेरणायें सर्वसाधारण प्रेरणा से, अर्थात् रूढ़ियाँ विधानों से, जितनी संबंधित होंगी उतनी ही मात्रा में विरोधी शक्ति को बढ़ाना पड़ेगा। इसलिये प्रभावशील होने के लिये जैसे लोगों की संख्या अधिक मात्रा में होगी उसी अनुपात मे शासन को अधिक शक्तिशाली होना पड़ेगा।

दूसरी ओर, क्योंकि राज्य के विस्तृत होने के कारण सार्वजनिक प्रभुत्व के धारकों को अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने की अधिक लालसा और अधिक साधन प्राप्त होते हैं इसलिये शासन को प्रजा पर नियंत्रण रखने के लिये अधिक बल की आवश्यकता होती है और इसी प्रकार सार्वभौमिक सत्ता को भी शासन पर नियंत्रण रखने के लिये अधिक बल की आवश्यकता होती है। उपर्युक्त विवेचन में मैं निरपेक्ष बल की बात नहीं कहता हूँ बल्कि राज्य के विभिन्न अंगों के सापेक्ष बल की बात कहता हूँ।

इस द्विपक्षीय संबंध से यह सिद्ध होता है कि सार्वभौमिक सत्ता शासनाधिकारी और प्रजा के मध्य सतत अनुपात स्वेच्छाचारी कल्पना नहीं है परन्तु राजनीतिक निकाय के स्वभाव का अनिवार्य परिणाम है। यह भी सिद्ध होता है कि चरमबिन्दुओं में से एक, अर्थात् लोग प्रजा के रूप में, स्थिर होने और एक इकाई द्वारा निरूपित होने के कारण, जब जब द्विपक्षीय अनुपात बढ़ जाता अथवा घट जाता है तो उसी मात्रा में एकल अनुपात भी बढ़ जाता या घट जाता है और परिणामस्वरूप मध्यस्थ मर्यादा परिवर्त्तित हो जाती है। इससे प्रकट होता है कि शासन का कोई संविधान निराला और निरपेक्ष नहीं हो सकता, परन्तु जितने भिन्न भिन्न विस्तार के राज्य होते हैं उतने ही भिन्न भिन्न प्रकार के शासन हो सकते हैं।

यदि प्रस्तुत शैली का उपहास करने की दृष्टि से यह कहा जाय कि अन्तस्थ अनुपात प्राप्त करने और शासन के निकाय का निर्माण करने के लिये मैं यह प्रस्तावित करता हूँ कि लोगों की संख्या का वर्गमूल निकालना आवश्यक है तो मेरा उत्तर है कि इस प्रकरण में मैं संख्या को केवल उदाहरण के लिये ही लेता हूँ, कि जिन अनुपातों की मैं बात करता हूँ वे केवल मनुष्य-संख्या के आधार पर अनुमानित नहीं हो सकते परन्तु सामान्यत: प्रक्रिया की मात्रा के आधार पर, जो अनेक कारणों के सम्मिलन के परिणामस्वरूप होती हैं। यदि थोड़े शब्दों में अपने विचार प्रकट करने के लिये मैं रेखकीय मर्यादाओं का क्षणिक आश्रय ले लेता हूँ, तो मैं इससे अनभिज्ञ नहीं हूँ कि रेखकीय सुथ्यता नैतिक मात्राओं में सार्थक नहीं हो सकती।

शासन छोटे रूप में वही वस्तु है जो राजनीतिक निकाय, जिसके अन्तर्गत शासन का अस्तित्व है बृहत् रूप में होता है। यह एक नैतिक व्यक्तित्व है जो

कतिपय शक्तियों से सम्पन्न, सार्वभौमिक सत्ता की भाँति सचेष्ट, राज्य की भाँति अचेष्ट है और इसे अन्य उसी प्रकार के संबंधों में विभाजित किया जा सकता है, उपर्युक्त के फलस्वरूप एक नया अनुपात स्थापित हो जाता है, और दंडाधिकारी के क्रम के अनुसार एक अन्य नया अनुपात यहाँ तक कि अंत में हम एक अभाज्य मध्यस्थ मर्यादा, अर्थात् एकल राजक अथवा वरिष्ठ दंडाधिकारी, पर पहुँच जाते हैं जो इस बढ़ते हुए क्रम के मध्य में अपूर्णांकों और पूर्णांकों की माला में एक इकाई रूप है।

अपने आपको मर्यादाओं के इस बाहुल्य से व्याकुल न करते हुए हमें राज्य के अन्तर्गत शासन को एक ऐसा नवीन निकाय के रूप में अवलोकन करने से संतुष्ट हो जाना चाहिये जो लोगों से और सार्वभौमिक सत्ता से भिन्न है परन्तु दोनों के अन्तस्थ है।

उपर्युक्त दोनों निकायों में केवल यह महत्त्वपूर्ण अंतर है कि राज्य स्वतः वर्त्तमान होता है परन्तु शासन सार्वभौमिक सत्ता द्वारा ही स्थापित होता है। इसलिये शासनाधिकारी की प्रबल प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणामात्र अथवा विधान मात्र ही होती है और होनी चाहिये। इसका बल इसमें संकेन्द्रित सार्वजनिक बल ही होता है। ज्यों ही यह किसी सम्पूर्ण या स्वतंत्र क्रिया को स्वतः संपादित करने की अभिलाषा से युक्त हो जाती है, त्यों ही समस्त का संगठन ढीला होना प्रारम्भ हो जाता है। यदि शासनाधिकारी अन्त में किसी ऐसी विशिष्ट प्रेरणा से युक्त हो जाय जो सार्वभौमिक सत्ता से अधिक सचेष्ट हो और यदि इस विशिष्ट प्रेरणा के अनुसरण पर बाध्य करने के लिये वह सार्वजनिक बल को, जो उसके अधीन होता है, इस प्रकार प्रयुक्त करने लगे कि यथार्थ में दो सार्वभौमिक अधिकारियों का अस्तित्व स्थापित हो जाय, एक नैयायिक और दूसरा वास्तविक, तो सामाजिक संगठन तुरन्त नष्ट हो जाता है और राजनीतिक निकाय बिलकुल लुप्त हो जाता है।

अपरंच, शासन के निकाय को एक अस्तित्व और एक ऐसा वास्तविक जीवन प्रदान करने के लिये, जो इसे राज्य के निकाय से भिन्न कर सके और इस हेतु शासन के सब सदस्य सम्मिलित रूप में क्रियाशील हो सकें और जिस प्रयोजन के लिये इसका निर्माण हुआ है, उसकी पूर्ति कर सकें, यह आवश्यक है कि शासन का एक विशिष्ट व्यक्तित्व हो और इसके सदस्यों में एक सामान्य अनुभूति हो और इसके परिरक्षण के लिये एक बल और निजी प्रेरणा हो। उपर्युक्त व्यक्तिगत अस्तित्व कल्पित करता है कि परिषदें, सभाएँ, विमर्श और संकल्प शक्ति, और शासनाधिकारी में निहित कतिपय अपवर्जी अधिकार, उपाधियाँ और विशेषाधिकार हों, जिनसे दंडाधिकारी की स्थिति उसी अनुपात से अधिक सम्माननीय हो जाती है, जितनी यह अधिक दुस्साध्य होती है। कठिनाइयाँ

उस साधन के निरूपण करने में होती हैं, जिस द्वारा इस अधीनस्थ सम्पूर्ण को सम्पूर्ण के अन्तर्गत इस प्रकार स्थापित किया जा सके कि अपने आपको प्रबल बनाते हुए वह सर्वसाधारण संविधान को दुर्बल न बना दे, कि उसका अपना विशिष्ट बल जो उसके अपने परिरक्षण के लिये योजित है उस सार्वजनिक बल से विभिन्न रह सके जो राज्य के परिरक्षण के लिये संचितित होता है और एक शब्द में,कि वह सदा इसके लिये उद्यत रहे कि शासन प्रजा के हित में स्वार्थत्याग करे न कि प्रजा से शासन के हित में स्वार्थ-त्याग करावे ।

अपरंच, हालाँकि शासन के कृत्रिम निकाय का निर्माण एक अन्य कृत्रिम निकाय द्वारा होता है और इसका अस्तित्व कई दृष्टियों से व्युत्पादित और अधीनस्थ होता है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शासन थोड़ी बहुत सचेष्टता से अथवा वेग से कार्य न कर सके, या यों कहिये कि पुष्ट स्वास्थ्य का थोड़ा बहुत उपभोग न कर सके । अंत में, अपने संस्थापन के प्रयोजन से स्पष्ट रूप में विचलित हुए बिना, उसे इस रीति के अनुसार, जिससे उसका निर्माण हुआ है, थोड़ा-बहुत फेर-बदल करने की शक्ति होनी चाहिये ।

उपर्युक्त फेर-बदल से उन विभिन्न संबंधों का प्रादुर्भाव होता है जिनको राज्य के निकाय से स्थापित करना शासन के लिये आवश्यक है ताकि उस आकस्मिक और विशिष्ट संबंधों से अनुकूलता हो सके जिनसे स्वयं राज्य परिवर्त्तित होता है । क्योंकि बहुधा स्वभावतः उत्तमतम शासन भी परम दूषित बन जायगा यदि उसके संबंध अपने राजनीतिक निकाय के दोषों से साथ साथ बदलते न रहेंगे ।

परिच्छेद २

वह सिद्धान्त जिसके आधार पर शासन के भिन्न रूप संकल्पित होते हैं

उपर्युक्त विभिन्नताओं के साधारण कारण की व्याख्या करने के लिये शासनाधिकारी और शासन में अंतर करना होगा, जैसे मैंने पूर्व में राज्य और सार्वभौमिक सत्ता में अंतर किया है।

दंडाधिकार निकाय के सदस्य अधिक अथवा न्यून हो सकते हैं। हम पहले कह चुके हैं कि जैसे जैसे लोगों की संख्या बढ़ती जाती है सार्वभौमिक सत्ता और प्रजा का अनुपात संबंध बढ़ता जाता है और एक स्पष्ट सादृश्य के आधार पर हम शासन और दंडाधिकारियों के संबंध में भी यही कह सकते हैं।

शासन के संपूर्ण बल में, चूँकि यह तो हमेशा राज्य के बल का ही परिमाण है, कोई परिवर्तन नहीं होता, जिसका यह अर्थ है कि जितनी अधिक मात्रा में शासन इस बात को अपने सदस्यों के प्रति प्रयोग कर लेता है उतनी ही कम मात्रा समस्त प्रजा पर प्रयोग करने के लिये रह जाती है।

परिणामस्वरूप, जितनी अधिक संख्या दंडाधिकारियों की होती है, उतना ही अधिक निर्बल शासन हो जाता है। क्योंकि उपर्युक्त उक्ति आधारभूत है, इसलिए और स्पष्टता से व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं।

हम दंडाधिकार के निकाय में तीन मूलतः विभिन्न प्रेरणाओं में अंतर कर सकते हैं। प्रथम, दंडाधिकारी की वैयक्तिक प्रेरणा जो केवल शासनाधिकारी के लाभ में ही प्रयुक्त होती है; द्वितीय, दंडाधिकारियों की सम्मिलित प्रेरणा जो केवल शासनाधिकारीके लाभ से ही संबंधित होती है और जिसे संसृष्ट प्रेरणा कहा जा सकता है, जो शासन के संबंध में सर्वसाधारण होती है, परन्तु राज्य के संबंध में, जिसका

शासन एक खण्ड मात्र है, विशिष्ट होती है। तीसरे स्थान पर लोगों की प्रेरणा अथवा सार्वभौमिक प्रेरणा, जो राज्य को संपूर्ण मानते हुए और शासन को संपूर्ण का एक भाग मानते हुए, उभय के संबंध में सर्वसाधारण होती है।

विधिकरण की परिपूर्ण संहति में विशिष्ट और व्यक्तिगत प्रेरणा अपवर्ती होनी चाहिये। संसृष्ट प्रेरणा, जिसका होना शासन के लिये स्वाभाविक है, अधीन होनी चाहिये, और परिणामस्वरूप सर्वसाधारण अर्थात् सार्वभौमिक प्रेरणा को सदा प्रबल और अन्य सबके नियमन अधिकार युक्त होना चाहिये।

दूसरी ओर, प्राकृतिक क्रम के अनुसार, ये विभिन्न प्रेरणायें उसी मात्रा में अधिक सचेष्ट हो जाती हैं, जितनी ये अधिक संकेन्द्रित होती हैं। इसलिये सर्वसाधारण प्रेरणा सबसे अधिक दुर्बल होती है, संसृष्ट प्रेरणा का दूसरा नम्बर आता है और विशिष्ट प्रेरणा का सर्वप्रथम नम्बर होता है, अर्थात् शासन में प्रत्येक मनुष्य सर्वप्रथम अपने आप, तदनंतर दंडाधिकारी और तदनंतर नागरिक होता है। यह क्रम उसके सर्वथा विपरीत है जिसकी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

यदि यह मान लिया जाय कि समस्त शासन-शक्ति, किसी एकमात्र मनुष्य के हाथ में है, तो विशिष्ट प्रेरणा और संसृष्ट प्रेरणा संपूर्ण रूप से सम्मिलित हो जायगी और परिणामस्वरूप प्रेरणा की गहनता की मात्रा अधिकतम संभाव्य होगी। चूँकि प्रेरणा की गहनता की मात्रा पर ही बल का प्रयास अवलम्बित होता है और चूँकि शासन का संपूर्ण बल परिवर्तित होता ही नहीं इसलिए यह सिद्ध है कि सचेष्टतम शासन एकमात्र व्यक्ति शासन ही होता है।

इसके विपरीत यदि हम शासन को विधायी शक्ति के साथ सम्मिलित कर दें, सार्वभौमिक सत्ताधिकारी को शासनाधिकारी और सब नागरिकों को दंडाधिकारी बना दें तो संसृष्ट प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा के साथ संभ्रमित होकर सर्वसाधारण प्रेरणा की अपेक्षा अधिक सचेष्ट न हो सकेगी और विशिष्ट प्रेरणा संपूर्णतया प्रबल रह जायगी इस प्रकार शासन, जिसका सम्पूर्ण बल सदा समान ही होता है, सापेक्ष बल और अचेष्टता के आधार पर निर्बलतम होगा।

ये संबंध विवादरहित होते हैं और अन्य विचार इनको अधिक पुष्ट करने में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि जितना सचेष्ट प्रत्येक नागरिक अपने निकाय में होता है उससे अधिक सचेष्ट दंडाधिकारी अपने निकाय में होता है, जिसके परिणामस्वरूप विशिष्ट प्रेरणा सार्वभौमिक सत्ता के कार्यों की अपेक्षा शासन के कार्यों में

कहीं अधिक प्रभावी होती है, क्योंकि प्रत्येक दंडाधिकारी प्रायः सदा ही शासन के किसी न किसी कृत्य से युक्त होता है जब कि प्रत्येक नागरिक व्यक्तिगत रूप में सार्वभौमिक सत्ता के किसी भी कृत्य से युक्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त, जितना अधिक राज्य का विस्तार होता है उतना ही अधिक इसका वास्तविक बल बढ़ता है, हालाँकि वह बल विस्तार के अनुपात से नहीं बढ़ता, लेकिन जब तक राज्य का विस्तार वही रहता है तो दंडाधिकारियों की संख्या को बढ़ाना निरर्थक होता है, क्योंकि ऐसा करने से शासन के वास्तविक बल में वृद्धि नहीं हो जाती, शासन का बल तो वास्तव में राज्य का बल होता है और उसकी मात्रा सदा समांश ही रहती है। इसलिए शासन का संपूर्ण और वास्तविक बल बढ़े बिना सापेक्ष बल और सचेष्टता कम ही होती है।

अपरंच, यह निश्चित है कि कार्य के संपादन का वेग अधिक व्यक्तियों के संपादन-कार्य में जुटने से कम हो जाता है, कि विवेक पर अधिक जोर देने से भाग्य का क्षेत्र कम हो जाता है और अवसरों को यों ही गुजरने दिया जाता है और कि अत्यधिक विवेचन के कारण विवेचन का परिणाम ही बहुधा लुप्त हो जाता है।

मैंने अभी अभी सिद्ध किया है कि दंडाधिकारियों की संख्या में वृद्धि होने के अनुपात से शासन दुर्बल हो जाता है और यह मैं पहले से सिद्ध कर चुका हूँ कि जितनी अधिक संख्या में प्रजा होती है निरोध बल को उतना ही बढ़ाना आवश्यक है, जिसका अर्थ यह है कि दंडाधिकारी और शासन का अनुपात प्रजा और सार्वभौमिक सत्ता के अनुपात से प्रतीपित होना चाहिये, अर्थात् जितना अधिक राज्य बढ़े उतना शासन को संक्षिप्त होना चाहिये, ताकि राजकों की संख्या प्रजा की संख्या की वृद्धि के अनुपात से घट जाय।

परन्तु मैं केवल शासन के सापेक्ष बल की बात कहता हूँ, शासन की सचाई की नहीं। क्योंकि विपरीततः दंडाधिकारियों की जितनी अधिक संख्या होती है, उतनी ही अधिक मात्रा में संसृष्ट प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा के निकट होती है और एकमात्र दंडाधिकारी के अधीन उपर्युक्त संसृष्ट प्रेरणा, जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, एक विशिष्ट प्रेरणा का रूप होती है। इस प्रकार एक ओर की हानि दूसरी ओर का लाभ बन जाती है और विधिकर की कला इसमें निहित होती है कि वह यह पहचान सके कि शासन के बल और प्रेरणा को, जो सदा अन्योन्य अनुपात में होते हैं, परस्पर किस अनुपात से निर्धारित किया जाय ताकि वे राज्य के लिए अधिकतम हितकर सिद्ध हों।

परिच्छेद ३

शासन का वर्गीकरण

पूर्वगत परिच्छेद में देखा गया है कि शासन के विभिन्न प्रकारों और रूपों में इनका निर्माण करनेवाले लोगों की संख्या के अनुसार अंतर करना किसलिये आवश्यक है। वर्तमान परिच्छेद में यह देखना है कि यह भिन्नीकरण किस प्रकार किया जाता है।

प्रथमतः, सार्वभौमिक सत्ता शासनभार को समस्त प्रजा में व प्रजा के अत्यधिक भाग में इस प्रकार न्यसित कर सकती है कि सामान्य नागरिक जनों की अपेक्षा ऐसे नागरिकों का बाहुल्य हो जाय जो दंडाधिकारी होंगे। शासन के इस रूप को हम जनतंत्र कहते हैं।

अथवा, सार्वभौमिक सत्ता शासन को अल्पसंख्यक हस्तों तक सीमित रख सकती है ताकि दंडाधिकारियों की अपेक्षा सामान्य नागरिकों की संख्या अत्यधिक हो, और इस प्रकार का नाम शिष्ट जनसत्ता होता है।

अंत में, सार्वभौमिक सत्ता समस्त शासन को केवल एक एकल दंडाधिकारी के हस्तों में केन्द्रित कर सकती है जिससे शेष सब अपनी शक्तियाँ व्युत्पादित करते रहें। यह तीसरा प्रकार साधारणतम है और इसे एकाधिकार अथवा राजकीय शासन कहते हैं।

यह उल्लेख आवश्यक है कि इन सब प्रकारों में, कम से कम प्रथम दो प्रकारों में, मात्राएँ संभाव्य होती हैं और इन मात्राओं का विस्तार भी काफी दीर्घ हो सकता है, यथा जनतंत्र में समस्त प्रजा को अधिकार दिये जा सकते हैं अथवा अधिकारों की सीमा आधी प्रजा तक रखी जा सकती है। इसी प्रकार, शिष्ट जन सत्ता, राज्य का विस्तार प्रजा के आधे भाग से लेकर न्यूनतम अनिश्चित संख्या तक हो सकता है। राजकीय सत्ता के भी कतिपय भाग बन सकते हैं। संविधान के अन्तर्गत स्पार्टा में सदा ही दो

राजा रहते थे और रोम के साम्राज्य में एक ही साथ आठ सम्राट् तक हुए हैं और उस समय भी यह कहना संभव नहीं था कि साम्राज्य का विभाजन हो गया है। इस प्रकार एक ऐसा बिन्दु होता है जहाँ शासन का प्रत्येक प्रकार अगले प्रकार में सम्मिश्रित हो जाता है, और स्पष्ट है कि तीन सरल संज्ञाओं के अन्तर्गत ही वास्तव में शासन के इतने भिन्न प्रकार हो सकते हैं जितने राज्य के नागरिक हैं।

इससे भी अधिक, एक ही शासन का कुछ दृष्टियों से, अलग अलग खंडों में विभाजन होना संभव होने के कारण, जिसमें एक का प्रशासन एक प्रकार से और दूसरे का अन्य प्रकार से होता हो, इन तीनों प्रकारों के मेल से मिश्रित प्रकारों की एक बड़ी संख्या बन सकती है जिनमें से प्रत्येक को सब सरल प्रकारों से गुणित किया जा सकता है।

सब युगों में शासन का उत्तमतम प्रकार क्या है इस पर पर्याप्त चर्चा होती रही है परन्तु इस चर्चा में इस तथ्य पर विचार नहीं किया गया कि प्रत्येक प्रकार किसी किसी विशिष्ट स्थिति में उत्तमतम हो सकता है और अन्य स्थितियों में दुष्टतम।

यदि विभिन्न राज्यों में वरिष्ट दंडाधिकारियों की संख्या नागरिकों की अपेक्षा विलोम अनुपात से हो तो यह धारणा की जा सकती है कि साधारणतया जनतंत्रात्मक शासन छोटे राज्यों के लिये उपयुक्त हैं, शिष्ट-जनसत्ता-राज्य मध्यम परिमाण के राज्यों के लिये और एकाधिकार शासन बृहत्-राज्यों के लिए, यह नियम तो तुरन्त सिद्धान्त से ही निरूपित किया जा सकता है, परन्तु उन असंख्य परिस्थितियों का अनुमान करना कैसे संभव है जो इस नियम के अपवाद रूप होती हैं ?

परिच्छेद ४

जनतंत्र[1]

विधान का निर्माण करनेवाला अन्यों की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से जानता है कि विधान को किस प्रकार कार्यान्वित और निर्वाचित करना चाहिये। उपरोक्त से ऐसा लगेगा कि विधान की सबसे सुन्दर व्यवस्था अधिशासी और विधायी शक्तियों के सम्मिलन से ही की जा सकती है परन्तु यही परिस्थिति कतिपय दृष्टियों से प्रजातंत्रात्मक शासक को अयोग्य बना देती है, क्योंकि जिन वस्तुओं को अलग अलग रखना उचित है वे इस व्यवस्था में अलग नहीं रहती हैं, और शासनाधिकारी और सार्वभौमिक सत्ता एक ही व्यक्ति होने से मानो अनियमित शासन का आधार बन जाती हैं।

यह लाभप्रद नहीं है कि जो विधानों का निर्माण करे वही उनको कार्यान्वित भी करे। न यह लाभकर होता है कि प्रजासमूह अपने ध्यान को साधारण विमर्श विन्दुओं से हटाकर विशिष्ट प्रयोजनों पर केन्द्रित करे। सार्वजनिक कृत्यों पर वैयक्तिक हितों के प्रभाव की अपेक्षा कोई अन्य वस्तु अधिक भयावह नहीं होती, और शासन द्वारा विधानों का दुष्प्रयोग विधिकर के भ्रष्टाचार की अपेक्षा जो वैयक्तिक हितों के अनुसरण का अनिवार्य परिणाम होता है, कम दोषयुक्त नहीं है। क्योंकि जब राज्य का सार ही बदल जाय तो संशोधन असंभव हो जाता है। जो लोग शासन का दुष्प्रयोग नहीं करते वे अपनी स्वतंत्रता का भी दुष्प्रयोग नहीं करते, जो लोग सदा भली भाँति शासन चला सकते हैं उन्हें प्रशासित होने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

१ प्लेटो के मतानुसार जनतंत्र समधिराज्य का एक दूषित प्रकार होता है जिसमें स्वातंत्र्य का अतिरेक होने से अनर्गलता उत्पन्न हो जाती है। देखिये रिपब्लिक ७ एरिस्टॉटल जनतंत्र को गणराज्य का दूषित रूप मानता था, देखिये पॉलिटिक्स ३—७.

यदि इस शब्द का सही अभिप्राय लिया जाय तो यथार्थ जनतंत्र का न तो कभी अस्तित्व हुआ है और न ही कभी होगा। यह प्राकृतिक व्यवस्था के प्रतिकूल है कि बहुसंख्यक शासन करे और अल्पसंख्यक प्रशासित हों। यह कल्पित करना असंभव है कि लोग सार्वजनिक कृत्यों पर विचार करने के लिये शाश्वत परिषद् में एकत्रित रहें और यह तो स्वतः स्पष्ट है कि प्रशासन के ढंग को परिवर्तित किये बिना उपरोक्त कार्य के लिये आयोग स्थापित नहीं किये जा सकते।

वास्तव में, मैं समझता हूँ कि यह सिद्धान्त के रूप में निर्धारित किया जा सकता है कि जब शासन के कार्य कतिपय अधिकरणों में विभाजित हो जाते हैं तो अल्पतम संख्यक अधिकरण आज अथवा कल अधिकतम प्रभुत्व को प्राप्त कर लेते हैं, इसका कारण कार्य-सम्पादन की सुगमता होता है, जिसके कारण स्वाभाविक रूप से उपरोक्त परिणाम हो जाता है।

अपरंच इस शासन में प्रायः सभी ऐसी वस्तुएँ पूर्वकल्पित होती हैं जिनको सम्मिलित करना कठिन है। प्रथम एक बहुत छोटा राज्य जिसमें लोग शीघ्रता से एकत्रित हो जायँ और जिसमें प्रत्येक नागरिक अन्य सबको सुगमता से जान सके। दूसरे आचार की बहुत सादगी जिसके कारण कार्यों का बाहुल्य और तीखी चर्चाएँ बाधित हो जायँ, अपरंच पद और सम्पत्ति की पर्याप्त समानता जिसके बिना अधिकार और प्रभुत्व की समानता देर तक निर्वाहित नहीं हो सकती, और अंत में विलास की न्यूनता अथवा अभाव, क्योंकि विलास या तो सम्पत्ति का फल होता है अथवा सम्पत्ति को आवश्यक बना देता है। सम्पत्ति धनी और निर्धन दोनों को भ्रष्ट कर देती है; धनी को सम्पत्ति के धारण के कारण और निर्धन को सम्पत्ति की लालसा के कारण। सम्पत्ति देश को पुरुषत्वहीनता और निस्सारिता की ओर ढकेल देती है; सम्पति एक व्यक्ति को दूसरे के अधीन बनाकर और सबको अभिमत के अधीन बनाकर राज्य को अपने सब नागरिकों से वंचित कर देती है।

इसी लिए एक लेखक[१] ने गणतंत्र को सिद्धान्तशील बताया है, क्योंकि उपरोक्त सब परिस्थितियाँ शील के बिना निर्वाहित नहीं हो सकतीं, परन्तु आवश्यक भेद न कर

१ यह प्रसिद्ध लेखक माण्टेस्क्यू है जिसने अपनी पुस्तक स्पिरिट आव् ला (५–१) में शील को गणतंत्र का सिद्धान्त बताया है, परन्तु इसी पुस्तक की प्रस्तावना में इस लेखक ने स्पष्ट किया है कि शील से उसका अर्थ

सकने के कारण उपरोक्त बुद्धिशाली लेखक में बहुता सुतथ्यता की दृष्टि से कभी कभी स्पष्टता की कमी रह गयी और वह यह नहीं देख सका कि सार्वभौमिक सत्ताधिकारी हर जगह समान होने के कारण प्रत्येक सुसंगठित राज्य में समान सिद्धान्त ही स्थापित होने चाहिये, चाहे शासन के रूप के अनुसार उनकी मात्रा न्यूनाधिक क्यों न हो जाय।

यह कहना भी आवश्यक है कि कोई शासन गृहयुद्ध और आन्तरिक आन्दोलनों के इतना अधीन नहीं होता जितना कि प्रजातान्त्रिक अथवा लौकिक शासन, क्योंकि कोई अन्य शासन इतनी तत्परता और निरन्तरता से अपना रूप बदलने को प्रवृत नहीं होता, तथा कोई अन्य शासन अपने निजी रूप में परिस्थापित रहने के लिये अधिक सतर्कता और साहस की माँग नहीं करता। इस संविधान में विशेषकर नागरिक को धैर्य और बल से युक्त होना सर्वोपरि आवश्यक होता है और अपने जीवन के प्रत्येक दिन अपने पूर्ण हृदय से यह कहना आवश्यक होता है, जो एक शीलाचारी पैलेटाइन ने पोलैण्ड की परिषद् में कहा था कि "मैं शान्तिपूर्ण दासत्व से शंकायुक्त स्वतंत्रता को अधिमान्य करता हूँ।"

यदि देवों का कोई राष्ट्र होता तो उसका शासन प्रजातांत्रिक होता। इतना परिपूर्ण शासन मनुष्यों के अनुकूल नहीं है।

राजनीतिक शील, अर्थात् देशप्रेम और समानता प्रेम से है, जो न्यूनाधिक सब प्रकार के शासन में विद्यमान है। इसलिये रूसो का अवक्षेप उचित नहीं।

ये शब्द पोलैण्ड के राजा के पिता ड्यूक डी रोरेन के हैं।

परिच्छेद ५

शिष्ट जनतंत्र

इस तंत्र में दो पूर्णतया भिन्न नैतिक अस्तित्व होते हैं, अर्थात् शासन तथा सार्वभौमिक सत्ता। इसके परिणामस्वरूप दो सर्वसाधारण प्रेरणायें होती हैं, एक का संबंध सब नागरिकों से और दूसरी का केवल शासन के सदस्यों से होता है, इसी लिए, यद्यपि शासन अपनी आन्तरिक नीति को इच्छापूर्वक नियमन कर सकता है, वह लोगों से सार्वभौमिक सत्ताधिकारी के रूप में कोई अतिरिक्त व्यवहार नहीं कर सकता, अर्थात् लोगों से स्वत: लोगों के नाम पर ही संबंध स्थापित कर सकता है। उपरोक्त तथ्य कभी भुलाना नहीं चाहिये।

आद्यतम समाजों का शासन शिष्ट जनतंत्रात्मक था।[1] कुटुम्बों के प्रधान सार्वजनिक कृत्यों के संबंध में पारस्परिक विमर्श कर लिया करते थे। युवक लोग सुगमता से अनुभव के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। इसी वास्ते निम्न शब्द प्रयुक्त होते थे : पुरोहित, वृद्ध लोग, शिष्ट सभा और वृद्ध समाज। उत्तरी अमेरिका के सभ्य लोग आज भी इसी प्रकार शासित होते हैं और उनका शासन बहुत अच्छा है।

परन्तु ज्यों ज्यों संस्था द्वारा निर्धारित असमानता प्राकृतिक असमानता पर अविभावी होती गयी, सम्पत्ति और बल[2] को वय की अपेक्षा अधिमान्यता मिलने लगी और शिष्ट जनतंत्र निर्वाचन पर आधारित हो गया। अंत में, पिता की सम्पत्ति के

१ समाजशास्त्रियों की धारणा है कि राजतंत्र शिष्टजनतंत्रात्मक शासन से पहले है। देखिये मेन : ऐनशेन्ट लॉ चैप्टर प्रथम और अरिस्टाटिल :——पॉलिटिक्स १, २

२ यह स्पष्ट है कि प्राचीन लोगों में से शब्द (आप्टीमेट्स) का अर्थ उत्तमतम नहीं किया जाता था, बल्कि शक्तिशालीतम किया जाता था।

साथ साथ शक्ति भी बच्चों को पारेषित होने लगी, जिससे कुटुम्ब विशिष्ट हो गये, शासन पैत्रिक हो गया और सभासद बीस वर्ष तक की अवस्था के पुरुष बनने लगे।

इसलिए शिष्ट जनतंत्र के तीन प्रकार होते हैं, प्राकृतिक, निर्वाचित और पैतृक। प्राकृतिक शिष्ट जनतंत्र केवल सरल राष्ट्रों के लिये उपयुक्त होता है। पैतृक शिष्ट जनतंत्र शासन का सबसे बुरा प्रकार होता है। निर्वाचित शिष्ट जनतंत्र उत्तमतम है, और वास्तविक अर्थ में यही शिष्ट जनतंत्र होता है।

पूर्व निर्दिष्ट दो अलग अलग शक्तियों के प्रभेद के अतिरिक्त शिष्ट जनतंत्र में एक और लाभ यह होता है कि यह अपने सदस्यों का चुनाव कर सकता है। लौकिक शासन में सब नागरिक जन्मतः ही दंडाधिकारी होते हैं परन्तु इसमें दंडाधिकारियों की संख्या सीमित होती है, और वे केवल निर्वाचित ही होते हैं।[१] निर्वाचन एक ऐसी रीति है जिसके अन्तर्गत सत्यता, बुद्धि, अधिमान्यता और सार्वजनिक आदर के अनेक अन्य कारण इस बात की नवीन प्रतिभूति बन जाते हैं कि मनुष्यों पर बुद्धिमानी से प्रशासन होगा। अपरंच, परिषदों के अधिवेशन अधिक सुगमता से बुलाये जा सकते हैं, कार्यों पर अधिक सुचारुता से विवेचन हो सकता है और अधिक क्रम और उद्यम से निर्णय हो सकता है। साथ ही विदेशों में राज्य की मान्यता अज्ञात और घृणित जनसमूह की अपेक्षा आदरणीय सभासदों द्वारा अधिक उत्तम रूप में संहृत होती है।

एक शब्द में, यह सबसे सुन्दर और सबसे स्वाभाविक वस्तु क्रम है कि सबसे बुद्धिमान लोग जनसमूह पर प्रशासन करें, यदि यह निश्चित हो सके कि प्रशासन केवल उनके अपने हित में न होकर जनसमूह के हित में होगा। अधिकार क्षेत्रों का निरर्थक बढ़ाना ठीक नहीं, न यह ठीक है कि जो काम सौ निर्वाचित मनुष्य अधिक सुचारुरूप से कर सकते हैं उसे बीस हजार मनुष्यों से कराया जाय। किन्तु साथ ही इस ओर भी ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है कि उपरोक्त दशा में संसृष्ट हित सार्वजनिक बल को सर्वसाधारण

१ विधान द्वारा दंडाधिकारियों के निर्वाचन का प्रकार नियमित करना बहुत आवश्यक है क्योंकि शासनाधिकारी की इच्छा पर इसे छोड़ने से पैतृक शिष्ट जनतंत्र की उत्पत्ति को रोकना असंभव हो जायगा। वेनिस और बर्न के गणराज्यों में ऐसा ही हुआ था। परिणामस्वरूप वेनिस देर से एक क्षयोन्मुखी राज्य है और बर्न केवल अपनी सभा की अत्यधिक बुद्धि द्वारा ही संघृत है। यह राज्य एक बड़े माननीय परन्तु भयानक अपवाद के रूप में है।

प्रेरणा के मार्ग पर क्रम निर्देशित करने लग जाता है, और एक अन्य अनिवार्य प्रवृत्ति विधानों को उनकी अधिशासी शक्ति से अंशतः वंचित कर देती है।

विशिष्ट सुविधाओं के बारे में यह कहा जा सकता है कि राज्य इतना छोटा नहीं होना चाहिये और प्रजा इतनी सरल और सत्य नहीं होनी चाहिये कि विधानों का प्रवर्तन सार्वजनिक प्रेरणा के बिलकुल अनुकूल हो जैसे अच्छे प्रजातंत्र में होता है। न ही राष्ट्र इतना विस्तृत होना चाहिये कि मुख्य पुरुष जो इस पर प्रशासन करने के लिये स्वभावतः निर्सजित होते हैं, अपने प्रान्त में सार्वभौमिक सत्ताधिकारी के रूप में संस्थापित हो सकें और अंत में स्वाधीन होने के लिये स्वतंत्र होने की चेष्टा आरंभ कर सकें।

परन्तु यद्यपि शिष्ट जनतंत्र लौकिक शासन के मुकाबले में कुछ कम शीलों की अपेक्षा करता है, फिर भी कुछ ऐसे भी शील हैं जिनकी विशिष्ट रूप से अपेक्षा इसी तंत्र को होती है, उदाहरणार्थ धनिकों में अनतिता और निर्धनों में संतोष। यह स्पष्ट है कि इस तंत्र में दृढ़ समानता अनुचित होगी। स्पार्टा तक में भी इसका पालन नहीं हो सका।[1]

इसके अतिरिक्त यदि शासन का यह प्रकार सम्पत्ति की कुछ असमानता से युक्त होता है तो सामान्यतः सार्वजनिक कार्यों का संपादन उनके सुपुर्द किया जाना वांछनीय है जो इस कार्य के हेतु अपना समस्त समय प्रदान कर सकते हों, न कि अरस्तू के कथनानुसार,[2] सदा ही धनिकों को अधिमान्य करना। इसके विपरीत, यह महत्त्वपूर्ण है कि अन्य का निर्वाचन कभी कभी लोगों को यह सिखा सकता है कि मनुष्यों के वैयक्तिक गुणों में धन के अतिरिक्त अधिमान्यता के और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कारण हो सकते हैं।

१ रूसो स्पार्टा का प्रशंसक था, परन्तु स्पार्टा के संविधान का यह संयत चित्रण ठीक नहीं है। स्पार्टा के संविधान के वर्णन के लिये देखिये अरिस्टाटल पालिटिक्स २. ९.

२ रूसो ने अरस्तू का अशुद्ध निर्वचन किया है, क्योंकि अरस्तू ने अपनी पुस्तक पालिटिक्स (३–१२, १३) में निम्न प्रकार लिखा है :—

"जन्म, स्वातंत्र्य तथा धन राजनैतिक शक्ति पर अध्यर्थन प्रदान करते हैं, परन्तु सर्वोच्च अध्यर्थन संस्कृति और शील से ही प्राप्त होता है।"

परिच्छेद ६

राजतंत्र

अभी तक हमने शासनाधिकारी को एक नैतिक और सामूहिक व्यक्ति के रूप में अवलोकित किया है जो विधानों के बल द्वारा संघटित होता है और जो राज्य की अधिशासी शक्ति का प्रन्यासी है। अब हमें इस शक्ति को एक प्राकृतिक व्यक्ति अथवा एक वास्तविक पुरुष के हाथ में केन्द्रित हुए अवलोकित करना है जिसे इस शक्ति के विधानों के अनुसार व्यवस्थापित करने का एक मात्र अधिकार होता है। वह पुरुष सम्राट् अथवा राजा कहलाता है।

प्रशासन के दूसरे प्रकारों के सर्वथा विपरीत जिनमें एक सामूहिक निकाय एक व्यक्ति का रूप धारण करता है, इस तंत्र में एक व्यक्ति सामूहिक निकाय का प्रतिनिधित्वकरता है,। परिणामस्वरूप जो नैतिक इकाई इसे निर्मित करती है वह साथ ही एक भौतिक इकाई भी हो जाती है जिसमें वे सब शक्तियाँ स्वभावतः ही सन्निहित हो जाती हैं जो विधान चेष्टापूर्वक नैतिक इकाई में एकत्रित करता है।

इस प्रकार लोगों की प्रेरणा, शासनाधिकारी की प्रेरणा, राज्य का सार्वजनिक बल और शासन का विशिष्ट बल सब एक ही प्रेरक शक्ति द्वारा गतिमान होते हैं, यंत्र के सब पुर्जे एक ही हस्त के अन्तर्गत होते हैं, और सब वस्तुएँ उसी उद्देश्य की ओर प्रवृत्त होती हैं। कोई विरोधात्मक गतियाँ रहती ही नहीं जो एक दूसरे को प्रतिविहित करें, और संविधान का कोई अन्य ऐसा प्रकार कल्पित नहीं किया जा सकता जिसमें कम परिश्रम से इससे अधिक कार्य सम्पादित हो सके। समुद्रतट पर शान्तिपूर्वक बैठा हुआ और सुगमता से एक बड़े जहाज को पानी में उतराता हुआ आर्शीमिडीज[1] मुझे

१ आर्शीमिडीज (बी० सी० २८७ : २१२) सीराक्यूज का एक महान् रेखा-गणितज्ञ और अभियन्ता था जो अपनी यांत्रित युक्तियों के लिये प्रसिद्ध था।

उस चतुर सम्राट् का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रतीत होता है जो अपनी कैबिनेट से अपने विस्तृत राज्य पर प्रशासन करता है और स्वयं गतिरहित प्रतीत होता हुआ प्रत्येक वस्तु को गतिमान करता है।

परन्तु यदि राजतंत्र से अधिक ओजस्वी और कोई शासन नहीं होता, राजतंत्र के अतिरिक्त किसी अन्य शासन में विशिष्ट प्रेरणा का इतना प्रभुत्व भी नहीं होता और न विशिष्ट प्रेरणा कहीं और अधिक सुगमता से दूसरों पर प्रशासन करती है। यह सत्य है कि राजतंत्र में प्रत्येक वस्तु एक ही प्रयोजन की ओर गतिमान होती है परन्तु यह प्रयोजन सार्वजनिक कल्याण नहीं होता और शासन की शक्ति स्वयं ही निरंतर राज्य के प्रतिकूल कार्यशील होती है।

राजा सम्पूर्णाधिकारी बनने के इच्छुक होते हैं और दूसरी ओर उन्हें निर्देशित भी किया जाता है कि संपूर्णाधिकारी बनने का सबसे उत्तम रास्ता प्रजा का प्रेमाधिकारी बननाहै। यह उक्ति बहुत सुन्दर है और कतिपय अर्थों में बहुत ठीक भी है परन्तु दुर्भाग्यवश राज्यसभा में यह सदा उपहासित होती है। निस्संदेह प्रजा के प्रेम से उत्पन्न हुई शक्ति महानतम होती है परन्तु यह संदिग्ध और प्रतिबन्धात्मक होती है और राजा इससे कभी संतुष्ट नहीं हो सकते। सर्वोत्तम राजा भी अपने इच्छानुसार स्वामित्व लाये बिना दुष्ट होने की शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। राजनीतिक उपदेशक उन्हें व्यर्थ में बताता रहेगा कि लोगों का सामर्थ्य उनका अपना ही होने के कारण यह उनके अपने हित में है कि लोग सम्पन्न, संख्या में अधिक और सामर्थ्यवान हों। राजा लोग जानते हैं कि यह तर्क असत्य है। उनका निजी हित प्रथमतः यह है कि लोग निर्बल और दुःखी हों और कभी भी उनका अवरोध न कर सकें। यदि यह मान लिया जाय कि सब प्रजा निरंतर पूर्णतया अनुवर्तनशील होगी तो मैं मानता हूँ कि उस दशा में राजक का हित यह होगा कि प्रजा शक्तिशाली हो ताकि उनकी शक्ति उसकी निजी होने के कारण पड़ोसियों के प्रति उसे सामर्थ्यवान बना सके। परन्तु क्योंकि यह हित गौण और अधीनस्थ होता है और क्योंकि उपरोक्त दोनों मान्यताएँ असंगत होती हैं इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि राजक सदा उस सिद्धान्त को अधिमान्य करें जो उनके लिये निकटतम लाभप्रद हो। सैम्युअल ने यहूदियों को यही बात[१] दृढ़ता से कही थी। मैकियावली[२] ने स्पष्टतया

१. देखिये १ सैमुएल अष्टम, ११ से १८ तक।

२. मैकियावली के गणराज्यवाद का प्रतिसमर्थन केवल रूसो ने ही नहीं

यही प्रमाणित किया था। जब वह राजाओं को शिक्षा देने का प्रदर्शन करता था, तो साथ ही प्रजा को भी महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ देता था। मैकियावली की पुस्तक "राजक" गणराज्यवादियों का आदि ग्रंथ है।[१]

हमने सामान्य तत्त्वों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि राजतंत्र केवल विस्तृत राज्यों के लिये ही उपयुक्त होता है और स्वतः राजतंत्र का विवेचन करने से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। जितनी अधिक संख्या में सार्वजनिक प्रशासनात्मक, निकाय होगा उतना ही अधिक शासनाधिकारी का अनुपात प्रजा के संबंध में क्षीण हो जायगा और समानता के निकट पहुँचेगा; यहाँ तक कि प्रजातंत्र में यह अनुपात इकाई अथवा समानता बन जाता है। परन्तु ज्यों ज्यों शासन संकुचित होता जाता है, यह अनुपात बढ़ता जाता है और जब शासनाधिकार एक व्यक्ति के हाथ में होता है तो यह अनुपात अपनी उच्चतम सीमा पर पहुँच जाता है। उस दशा में शासनाधिकारी और प्रजा के बीच अत्यधिक फासला हो जाता है और राज्य में संलाग का अभाव हो जाता है। तब राज्य को एकीकृत करने के लिये अन्तस्थ वर्ग स्थापित करने पड़ते हैं ! यह अन्तस्थ वर्ग राजक, महाजन और शिष्ट जनों द्वारा निर्मित होता है। परन्तु छोटे राज्य के लिये यह सब कुछ समुचित नहीं है क्योंक इन सब वर्गों द्वारा तो इसके नाश की ही संभावना होती है।

किया है, दार्शनिक स्पिनोजा ने तथा इतिहासज्ञ हैलम ने भी इसी दृष्टि को मान्य किया है। देखिये स्पिनोजा : ट्रेटे पॉलिटीक तथा हैलम : लिट. आव् यूरोप, १–८.

१ मैकियावली एक सम्माननीय पुरुष और अच्छा नागरिक था, परन्तु मेडिची के कुटुम्ब से संलग्न होने के कारण अपने देश के कुसमय के दिनों में उसे स्वतंत्रता के लिये अपना प्रेम छिपाना पड़ा। अधम नायक (Cesare Borgia) को चुनने मात्र से ही उसका गुप्त अभिप्राय पर्याप्त रूप में स्पष्ट हो जाता है और उसकी पुस्तक "राजक" के सिद्धान्तों और डिस्कोर्सेज़ आन टिटस लिविअस तथा हिस्ट्री आव् फ्लोरेन्स के सिद्धान्तों में पारस्परिक विरोध से प्रकट हो जाता है कि इस गंभीर राजनीतिज्ञ को पाठकों ने अभी तक केवल तलोपरिक और दूषित रूप में पढ़ा है। रोम के राज्य दरबार में इसकी पुस्तक का दृढ़ता से निषेध किया गया था। मैं यह भली प्रकार जानता हूँ परन्तु रोम का राजदरबार ही तो वह है जिसका उसने इतने स्पष्ट रूप से चित्रण किया था।

परन्तु यदि विस्तृत राज्य के लिए सुचारु रूप से प्रशासित होना कठिन है तो किसी एक पुरुष द्वारा तो सुशासित होना और भी अधिक कठिन है, और यह तो सबको ज्ञात है कि जब राजा प्रतिराजाओं[1] को नियुक्त करता है तो उसका परिणाम क्या होता है।

एक सारभूत और अनिवार्य दोष, जिसके कारण गणतंत्रात्मक शासन से राजतंत्रात्मक शासन सदा ही अवर रहेगा, यह है कि गणतंत्रात्मक शासन में सार्वजनिक मत के आधार पर वरिष्ट पदों पर ज्ञानयुक्त और योग्य पुरुष साधारणतया कभी आरूढ़ नहीं होते जो उन पदों का कार्य आदृत रूप में कर सकें। बल्कि जो राजतंत्रात्मक शासन में सफल होते हैं वे बहुधा केवल क्षुद्र, कुचेष्टाकारी, क्षुद्र शठ और क्षुद्र षड्यंत्रकारी होते हैं जिनका क्षुद्र, चातुर्य, जिसके बल पर वे राजदरबार में वरिष्ट पदों को प्राप्त कर लेते हैं, पद प्राप्त करने के त्वरित उपरान्त ही जनसाधारण उनकी अप्रवीणता को प्रदर्शित कर देता है। राजा की अपेक्षा जनता का वरण बहुत कम भूलपूर्ण होता है और राजतंत्री मंत्रिमंडल में सुयोग्य पुरुष इतना ही बिरला दिखायी देता है जितना गणतंत्रात्मक शासन के प्रमुख स्थान पर मूर्ख। इसलिए जब कभी सौभाग्य से राज्य-परम्परा में कोई सुयोग्य शासक[2] जन्म जाता है और उपरोक्त मंत्री-समूह द्वारा विनष्ट राज्य के कार्य संपादन करने लगता है तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि उसे क्या द्रव्य-साधन प्राप्त हो जाते हैं और उसका पदग्रहण देश में नया युग आरम्भ कर देता है।

राज्यतंत्रात्मक राज्य सुचारु रूप से प्रशासित हो सके इस हेतु यह आवश्यक है कि उसकी विशालता और विस्तार शासक की शक्ति के अनरूप हो। विजय करना शासन करने की अपेक्षा सुगम है। पर्याप्त उत्तोलन दंड होने से विश्व को एक उँगली से गतिमान किया जा सकता है, परन्तु इसे धारण करने के लिए हरक्यूलीज़ के कंधों की ज़रूरत होती है। चाहे राज्य कितना ही छोटा हो राजक इसके लिए सदा ही अतिक्षुद्र होता है। परन्तु इसके विपरीत जब ऐसा लगे कि राजक के पास अतिक्षुद्र

१ रूसो का स्पष्ट निर्देश उन तीस प्राधीक्षकों (Intendants) की ओर है जो उस समय फ्रांस का प्रशासन करते थे।

२ ऐसा अनुमान किया जाता है कि रूसो का निर्देश duc de choiseul की ओर था।

राज्य है जो बहुत कम होता है तो भी प्रशासन बुरा ही रहता है, क्योंकि राजक अपनी विशाल संचिंतनाओं का अनुसरण करता हुआ प्रजा के हितों को भुला देता है और जितना कोई अवर शासक अपनी योग्यता की कमी के कारण प्रजा को अप्रसन्न करता है, इसलिए ऐसा कहना चाहिये कि राजक की क्षमता के अनुसार राज्य प्रत्येक शासन में घटता बढ़ता रहना आवश्यकीय है, परन्तु सभासदों की योग्यता निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत कार्यशील होने के कारण गणतंत्रात्मक राज्य स्थायी सीमाएँ प्राप्त कर सकता है और प्रशासन समान रूप में संतोषप्रद हो सकता है।

एक मात्र व्यक्ति के शासन की सबसे स्पष्ट असुविधा यह है कि जैसे दूसरे दो शासन के प्रकारों में सतत अनुक्रम हो जाता है इसमें अनुक्रम विघ्नरहित नहीं होता। एक राजा के मर चुकने पर अन्य आवश्यक होता है, यदि निर्वाचन से दूसरा निर्धारित करना हो तो भयावह समयान्तर उत्पन्न हो जाता है जो तूफानी होता है और यदि नागरिक अपक्षपाती और सच्चे न हों, जिसकी संभावना इस शासन में बहुत नहीं है तो निर्वाचन में षड्यंत्र और भ्रष्टाचार सम्मिलित हो जाते हैं। जिस मनुष्य को इस प्रकार राज्य विक्रय हुआ हो यह कठिन है कि वह स्वयं भी इसका विक्रय न कर डाले, और जो धन अन्य शक्तिशाली लोगों ने उससे बलात् आदान किया था वह असहाय प्रजा से क्षतिपूरित न कर ले। ऐसे प्रशासन के अन्तर्गत कभी न कभी सब वस्तुयें धनभेद्य हो जाती हैं और राजा के अधीन शान्ति का उपभोग उस अवस्था में अराजकत्वकाल की अव्यवस्था से भी बुरा होता है।

इन दोषों को दूर करने के लिए क्या किया गया है? मुकुट कतिपय कुटुम्बों में पित्रगत् बना दिया जाता है और उत्तराधिकार का एक क्रम निर्धारित कर दिया जाता है जिससे राजा की मृत्यु पर कोई झगड़ा न हो। अर्थात् निर्वाचन की असुविधा के स्थान पर प्रतिराजमंडलों की असुविधा प्रतिस्थापित कर दी जाती है, बुद्धियुक्त प्रशासन की अपेक्षा शान्ति की दिखावट को और अच्छे राजाओं के निर्वाचन में युक्त विवाद का संकट उठाने की अपेक्षा बच्चों, राक्षसों और दुर्बलों को शासक बनाने का जोखिम उठाना पसन्द किया जाता है। लोग इस ओर काफी ध्यान नहीं देते कि उपरोक्त विकल्प के संकट उठाने में उन्होंने अपने आप को अत्यन्त कठिनाई में डाल लिया है। पुत्र डाइनोसिस ने अपने पिता को जिसके द्वारा वह यह कहकर तिरस्कृत किया गया था कि क्या मैंने तुम्हारे समक्ष इस प्रकार का कोई उदाहरण दिया है, बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर दिया है कि "पितृवर, आपका पिता राजा नहीं था।"

जिस मनुष्य का पालन पोषण दूसरों पर प्रशासन करने के हेतु होता है उसे न्याय और युक्ति से अपवंचित करने के लिये सब हेतु उत्पन्न हो जाते हैं। यह कहा जाता है कि युवक राजकों को शासन-कला सिखाने का काफी प्रयत्न किया जाता है, परन्तु यह शिक्षा उन्हें लाभ देती प्रतीत नहीं होती। उन्हें आज्ञापालन-कला सिखाने से आरंभ करना कहीं अच्छा हो। इतिहास ने जिन महानतम राजाओं की प्रशंसा की है वे शासन करने के लिये प्रशिक्षित नहीं हुए थे, प्रशासन एक ऐसा विज्ञान है जिससे अत्यधिक अध्ययन के पश्चात् भी मनुष्य कुछ कम अनभिज्ञ नहीं रहते और इसकी अवाप्ति का अधिक सुन्दर मार्ग आज्ञापालन द्वारा होता है, प्रशासन द्वारा नहीं। अच्छी और बुरी वस्तुओं में अन्तर करने का सबसे लाभप्रद और सबसे सुगम मार्ग यह है कि इस बात पर विचार किया जाय कि किसी अन्य राजक के आधीन आप क्या करना अनुमोदित अथवा अननुमोदित करते हैं।

संलाग के इस अभाव का परिणाम यह होता है कि राजतंत्रात्मक शासन अस्थिर हो जाता है जो राज्याधिकारी राजक अथवा उसकी ओर से राज्य करनेवाले व्यक्तियों के चरित्र के अनुसार कभी एक योजना द्वारा नियमित और कभी अन्य योजना द्वारा नियमित होने से एक स्थिर प्रयोजन का अथवा संगत आचरण-सिद्धान्त का किसी लंबे समय के लिये अनुसरण नहीं कर सकता, इस अस्थिरता के कारण राज्य सिद्धान्तों और योजनाओं के मध्य डोलता रहता है। उपरोक्त स्थिति अन्य शासनों की नहीं होती जहाँ शासनाधिकारी सदा समान रहता है। इसी प्रकार साधारणतया यह देखने में आता है कि राज्यदरबार में अधिक चातुर्य और शिष्ट सभा में अधिक बुद्धिमत्ता होती है और यह भी कि गणराज्य अपने प्रयोजनों को अधिक स्थिर और नियमित साधनों द्वारा अनुसरित करते हैं जब कि तमाम मंत्रियों और तमाम राजाओं का यह सामान्य सिद्धान्त होने के कारण कि जो कार्य उनके पूर्वगामियों द्वारा संपादित हुआ है, उसे उत्क्रमित करना है, राजतंत्रात्मक मंत्री सभा का प्रत्येक परिद्रोह राज्य में क्रान्ति उत्पन्न कर देता है।

संलाग के उपरोक्त अभाव से राजनीतिज्ञों के एक परिचित मिथ्यावाद का हल प्राप्त हो जाता है। यह मिथ्यावाद सामाजिक शासन की कौटुम्बिक शासन से तुलना करने में निहित है जिसका हम पहले ही खंडन कर चुके हैं परन्तु इसके अतिरिक्त यह मिथ्यावाद दंडाधिकारी को उन सब गुणों से संपूर्णतया युक्त मान लेने की धारणा करता है जिनकी उसे आवश्यकता पड़ती है और उसकी मान्यता है कि राज्य स्वभावतः सा हो जैसा उसे होना चाहिये। उपरोक्त मान्यता के आधार पर राजतंत्रात्मक

शासन अन्य प्रत्येक शासन-प्रकार से प्रत्यक्षतः अधिमान्य है, सिद्ध किया जाता है क्योंकि यह शासन निर्विरोध रूप से प्रबलतम तो होता ही है श्रेष्ठतम होने के लिये इसमें केवल उस संसृष्ट प्रेरणा की कमी है जो सर्वसाधारण प्रेरणा के संगत हों।

परन्तु यदि प्लेटो के अनुसार स्वभावतः राजा बिरला ही व्यक्ति होता है तो प्रकृति और भाग्य का ऐसा संयोग कि वही व्यक्ति मुकुट को धारण भी करे कितनी बार हो सकता है ? और यदि राजकीय शिक्षा अनिवार्य रूप से शिक्षितों को भ्रष्ट कर देती है तो मनुष्यों के ऐसे अनुक्रम से जिन्हें प्रशासनार्थ ही प्रशिक्षित किया गया हो, क्या आशा की जा सकती है ? इसलिये राजतंत्रात्मक शासन को एक अच्छे राजा के साथ संभ्रमित करना ऐच्छिक आत्मवंचन मात्र है। यह शासन वास्तव में क्या है इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसे अयोग्य और दुष्ट शासकों के अधीन अवलोकन करना चाहिये, क्योंकि सिंहासन पर इस प्रकार के राजा ही आरूढ़ होंगे अथवा सिंहासन उन्हें ऐसा बना देगा।

हमारे लेखक इन कठिनाइयों से अनभिज्ञ नहीं थे परन्तु वे उनसे व्याकुल नहीं हुए। उनका कथन है कि इन कठिनाइयों का प्रतिकार बिना असंतोष प्रकट किये आज्ञापालन करने से होगा। ईश्वर जब नाराज हो जाता है तो दुष्ट राजाओं को जन्म देता है और हमें इन्हें ईश्वरीय ताड़ना के रूप में सहन करना चाहिये। इस प्रकार की युक्ति निस्संदेह शिक्षाप्रद है परन्तु मेरी धारणा है कि यह युक्ति राजनीति की पुस्तक में लिखित होने की अपेक्षा धर्मोपदेश के स्थान से दिया जाना अधिक उचित होगा। ऐसे चिकित्सक के बारे में जो अद्भुत कार्य करने का वायदा करे और रोगी को धैर्य देने में ही अपनी समस्त कला का प्रयोग करे, क्या कहा जा सकता है। हम समुचित रूप से जानते हैं कि जब हमारा शासन खराब होता है तो उसे सहन करना ही पड़ता है, प्रश्न हमारे सामने यह है कि अच्छा शासन कैसे प्राप्त किया जाय।

परिच्छेद ७

मिश्रित शासन

यथार्थ रूप में सरल शासन होता ही नहीं। एक मात्र राजक को अधीनस्थ दंडाधिकारियों की आवश्यकता होती है, और लौकिक शासन में एक मुख्याधिकारी अनिवार्य है। इस प्रकार अधिशासी शक्ति के विभाजन में सदा बड़ी संख्या से छोटी संख्या की ओर अनुक्रम होता है, अंतर केवल इतना है कि कई बार बहुसंख्या अल्पसंख्या पर निर्धारित होती है और कई बार अल्पसंख्या बहुसंख्या पर।

कई बार विभाजन समानता के आधार पर होता है, यह दो अवस्थाओं में होता है, प्रथम जब संघटक अंग पारस्परिक निर्भरता में रहते हैं, यथा इंग्लैण्ड के शासन में; दूसरे जब प्रत्येक भाग का प्रभुत्व स्वाधीन परन्तु अपूर्ण होता है, जैसे पोलैण्ड में। उपरोक्त दूसरा प्रकार खराब होता है क्योंकि शासन में कोई ऐक्य नहीं होता और राज्य में संलाग का अभाव होता है।

प्रश्न यह है कि सरल अथवा मिश्रित शासन अधिक अच्छा होता है। इस प्रश्न पर राजनैतिक लेखकों में प्रबल विवाद रहता है और इसका उत्तर वही देना उचित होगा जो मैं पहले प्रत्येक शासन के प्रकार के संबंध में दे चुका हूँ।

स्वतः सरल शासन उत्तमतर होता है, केवल इसी कारण कि वह सरल है। परन्तु जब अधिशासी शक्ति विधायी शक्ति पर पर्याप्त मात्रा में निर्भर नहीं होती, अर्थात् जब शासनाधिकारी और सार्वभौमिक सत्ता में प्रजा और शासनाधिकारी की अपेक्षा बड़ा अनुपात होता है तो इस अनुपात की असंगतता को शासन के विभाजन से प्रतिकृत किया जाता है क्योंकि ऐसा करने से प्रजा पर शासन के सब खंडों का समान प्रभुत्व हो जाता है और उनके विभाजन के कारण उनका सम्मिलित बल सार्वभौमिक सत्ता के विरुद्ध क्षीण हो जाता है।

इस कठिनाई का प्रतिकार अंतस्थ दंडाधिकारियों के स्थापन द्वारा भी किया जा सकता है जो शासन को संपूर्ण रखते हुए दोनों शक्तियों : अर्थात् अधिशासी और विधायी शक्तियों में संतुलन स्थापित कर देते हैं और उनके भिन्न भिन्न अधिकार को परिरक्षित कर देते हैं। उस दशा में शासन मिश्रित नहीं होता, बल्कि संयत होता है।

इसके विपरीत कठिनाई को भी समान साधनों से ही प्रतिकृत किया जा सकता है, और जब शासन अत्यधिक शिथिल होता है तो इसे सकेन्द्रित करने के लिये धर्माधिकरण निर्मित किये जाते हैं। सब जनतंत्रों में यही रूढ़ि है। उपरोक्त प्रथम दशा में शासन को निर्बल बनाने के लिये और दूसरी दशा में प्रबल बनाने के लिये विभाजित किया जाता है, क्योंकि बल और शिथिलता की अधिकतम मात्रा सरल शासनों में ही पायी जाती है, इसके विपरीत मिश्रित शासन माध्यम बल प्रदान करते हैं।

परिच्छेद ८

प्रत्येक शासन का प्रकार प्रत्येक देश के लिये उपयुक्त नहीं होता

सब प्रकार की जलवायु में फलित न हो सकने के कारण स्वतंत्रता सब लोगों को प्राप्त नहीं होती। मौंटिस्क्यू द्वारा संस्थापित उपर्युक्त सिद्धान्त को हम जितना ज्यादा देखते हैं उतना ही हम इसकी सत्यता का दर्शन करते हैं। जितना अधिक इस सिद्धान्त को विवादित किया जाता है उतना ही अधिक अवसर नये प्रमाणों द्वारा इसे स्थापित करने का मिलता है।

विश्व के सब शासनों में सार्वजनिक व्यक्ति केवल उपभोग करता है परन्तु कुछ उत्पादित नहीं करता। जिस तत्व का उपभोग किया जाता है वह कहाँ से आता है? शासन के सदस्यों के श्रम से। सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्तियों द्वारा की हुई बचत से होती है जिससे यह सिद्ध होता है कि सामाजिक रचना तभी तक निर्वाहित हो सकती है जब तक मनुष्यों का श्रम उनकी अपनी आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन करता हो।

परन्तु उपर्युक्त अतिरेक विश्व के सब देशों में समान नहीं होता, कुछ देशों में अतिरेक की मात्रा बहुत अधिक होती है, अन्यों में मध्यम, कुछ और में शून्य और कतिपय में वियुत राशि में। यह मात्रा निम्न कारणों पर आधारित होती है—जलवायु के कारण भूमि की उर्वरता पर, भूमि पर किस प्रकार का श्रम आवश्यक होता है उस पर, भूमि-उपज के प्रकार पर, निवासियों की शारीरिक शक्ति पर, निवासियों को अपने निर्वाह हेतु कम या अधिक उपभोग की आवश्यकता है इस पर, और इसी प्रकार के अनेक अन्य अनुपातों पर जो इसे निर्मित करते हैं।

दूसरी ओर, सब शासनों का स्वभाव समान नहीं होता। कुछ अधिक, अन्य कम मात्रा में व्यर्थव्ययी होते हैं और इस अंतर का आधार यह है कि सार्वजनिक अंशदान

अपने स्रोत से जितनी दूर होते हैं उतने ही वे बोझल प्रतीत होते हैं। करों का भार उनकी मात्रा से अनुमानित नहीं किया जा सकता परन्तु उस फासले से जो उन्हें जिनसे वे एकत्रित किये गये हैं उनको लौटने के लिये पूरा करना पड़ता है; जब यह परिवहन सत्वर और सुचारु रूप से संस्थापित होता है तो कर की मात्रा अधिक है अथवा क्षीण इसका कोई महत्त्व नहीं रहता। लोग सदा संपन्न रहते हैं और राज्य-वित्त सदा वैभव-शाली रहता है। इसके विपरीत, लोग चाहे कितना ही कम कर दें, यदि यह कम मात्रा भी उन्हें प्रतिवर्तित न होती हो तो वे निरंतर देने के कारण जल्दी ही उत्स्रावित हो जाते हैं; परिणामस्वरूप राज्य कभी संपन्न नहीं होता और प्रजा सदा भिक्षुवत् रहती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रजा और शासन के बीच का अंतर जितना अधिक बढ़ जाता है शुल्क भी उतने ही अधिक दुर्वह हो जाते हैं। इसी लिये जनतंत्र में लोग न्यूनतम भारग्रस्त होते हैं, शिष्ट जनतंत्र में इससे अधिक और राजतंत्र में अधिकतम अधिभारित होते हैं। इसलिये राजतंत्र केवल संपन्न राष्ट्रों के ही उपयुक्त होता है, शिष्ट जनतंत्र ऐसे राज्यों के जो संपत्ति और विस्तार में मध्यम हों और जनतंत्र छोटे और निर्धन राज्यों के।

वास्तव में, जितना ही हम ज्यादा इस पर विचार करते हैं उतना ही स्वतंत्र और राजतंत्रात्मक राज्यों में यही अंतर हमें प्रतीत होता है। स्वतंत्र राज्यों में प्रत्येक वस्तु सामान्य लाभ के हेतु प्रयुक्त होती है ; राजतंत्रात्मक राज्य में सार्वजनिक और वैयक्तिक द्रव्य साधन अन्योन्य होते हैं अर्थात् वैयक्तिक द्रव्य साधनों की क्षति से सार्वजनिक साधनों की वृद्धि होती है। अंत में प्रजा को सुखी बनाने के हेतु उन पर प्रशासन करने की अपेक्षा प्रशासन करने के हेतु उन्हें दुःखी बनाया जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक जलवायु में नैसर्गिक कारण होते हैं जिनके आधार पर उस जल-वायु के स्वभाव के अनुरूप शासन का क्या प्रकार होगा यह हम निरूपित कर सकते हैं और कह सकते हैं कि उस देश में किस प्रकार के निवासी रहने चाहिये। अनुपजाऊ और ऊसर क्षेत्रों को, जहाँ उपज श्रम का प्रतिशोधन नहीं कर सकती अकृष्ट और संपरि-त्यक्त रहना चाहिये अर्थात् केवल क्रूर लोगों द्वारा वासित होना चाहिये। वे क्षेत्र जहाँ मनुष्य का श्रम केवल आवश्यकताओं की पूर्तिमात्र करता है असभ्य राष्ट्रों द्वारा वासित होने चाहिये, उनमें कोई विधि स्थापित करना असंभव होता है। वे क्षेत्र जहाँ उपज का श्रम से अतिरेक मध्यम मात्रा में हो स्वतंत्र राष्ट्रों के वास के हेतु उपयुक्त होते हैं ; वे जिनकी प्रचुर और उर्वरा भूमि क्षीण श्रम से भी अधिक उपज उत्पादित करती है,

राजतंत्र प्रशासन के हेतु उपयुक्त होते हैं ताकि प्रजा की बचत शासनाधिकारी के विलास में उपभुक्त हो सके। वैयक्तिक पुरुषों द्वारा लुटाये जाने की बजाय उस अतिरेक का शासन द्वारा शासित होना अधिक अच्छा है। मुझे ज्ञात है कि इस नियम के अपवाद हो सकते हैं, परन्तु ये अपवाद इस नियम को स्वत: सिद्ध करते हैं; क्योंकि कभी न कभी वे उन क्रान्तियों को उत्पन्न करते हैं जिनके कारण वस्तुओं का नैसर्गिक क्रम संस्थापित हो जाता है।

साधारण विधानों का उन विशिष्ट कारणों से जिनके द्वारा उनके परिणाम संपरिवर्तित हो जाते हैं, भेद करना वांछनीय है। यदि समस्त दक्षिण में लोकतंत्र ही होते और समस्त उत्तर में एकाधिकार राष्ट्र, तब भी यह कहना असत्य नहीं होता कि जलवायु के प्रभाव के अन्तर्गत एकाधिकार उष्ण देशों के उपयुक्त होता है, अराजकता शीत देशों, और संतुलित शासन अंतस्थ क्षेत्रों के। परन्तु मैं देखता हूँ कि सिद्धान्त को मान्य करके भी इसकी प्रयुक्ति पर विवाद होता है; उदाहरणार्थ यह तर्क किया जा सकता है कि कुछ शीत देश बहुत उपजाऊ हैं और कुछ दक्षिण स्थित देश बिलकुल अनुपजाऊ। परन्तु यह कठिनाई तो केवल उन्हें अनुभव होती है जो इस विषय को पूर्णरूपेण अवलोकित नहीं करते। जैसे मैं पहले कह चुका हूँ श्रम, द्रव्यसाधन तथा उपभोग आदि से युक्त सब संबंधों को संगणित करना आवश्यक है।

विस्तार में समान दो मंडलों की उपज, मान लो कि ५ और १० के अनुपात से है। यदि पहले मंडल के निवासी चार खंडों का उपभोग करें और दूसरे मंडल के निवासी ९ खंडों का, तो पहले की अतिरिक्त उपज का पाँचवाँ भाग व दूसरे का दसवाँ भाग रह जायगा। उपर्युक्त दोनों अतिरेकों का अनुपात प्रत्येक की उपज के विलोमकृत होने के कारण वह मंडल जिसकी उपज केवल पाँच है, दूसरे मंडल से जिसकी उपज दस है दुगुनी बचत प्राप्त करेगा।

परन्तु यह प्रश्न दुगुनी उपज पर आधारित नहीं होता और मैं नहीं मानता कि कोई व्यक्ति शीत देशों की उर्वरता को उष्ण देशों की उर्वरता के समान कल्पित कर सकता है। परन्तु यदि हम इस समानता को कल्पित भी कर लें, अर्थात् इंगलिस्तान को सिसली के समान और पोलैण्ड को मिस्र के समान मान लें, तब भी और अधिक दक्षिण में अफ्रीका और भारत होंगे और अधिक उत्तर में कुछ नहीं होगा। उपज की इस समानता के बदले संस्कृति की मात्रा में कितना अन्तर प्रकट होगा। सिसली में भूमि को खुरचना मात्र आवश्यक होता है परन्तु इंगलैण्ड में इसे कर्षण करने के लिये कितने

श्रम की आवश्यकता है ? और जहाँ उसी उपज को प्राप्त करने के लिये अधिक श्रम की आवश्यकता पड़े यह स्पष्ट है कि बचत बहुत क्षीण रह जायगी।

इसके अतिरिक्त इसे ध्यान में रखना भी आवश्यक है कि उष्ण देशों में मनुष्यों की समान संख्या बहुत कम द्रव्य का उपभोग करती है। जलवायु की यह माँग है कि लोग स्वस्थ रहने के लिये संयत हों; जो यूरोपनिवासी उष्ण देशों में अपने मूल निवास के समान रहना चाहते हैं, पेचिश और कब्ज़ से मर जाते हैं। शार्डिन कहता है कि "एशिया निवासियों की अपेक्षा हम लोग मांसाहारी पशु और भेड़िये हैं। कुछ लोग ईरानियों के संयम को इस तथ्य का परिणाम बताते ह कि उनके देश में कृषि स्वल्प मात्रा में होती है परन्तु इसके विरुद्ध मेरी यह मान्यता है कि चूंकि निवासियों को बहुत कम की आवश्यकता होती है इसलिए उनके देश में खाद्य पदार्थों की प्रचुरता नहीं है। यदि उनकी मितव्ययता देश की निर्धनता का परिणाम होती तो केवल निर्धन लोग ही थोड़ा खाते परन्तु देश के सभी निवासी साधारणतया थोड़ा खाते हैं अथवा प्रत्येक प्रदेश में भूमि की उर्वरता के अनुसार व्यक्ति अधिक अथवा न्यून उपभोग करते; परन्तु समस्त देश में स्वल्पाहार की प्रथा दृष्टिगोचर होती है। वे लोग अपनी जीवनचर्या का बहुत गर्व करते हैं और कहते हैं कि हम ईसाइयों की अपेक्षा कितने उत्कृष्ट हैं। इसकी कल्पना करने के लिये केवल हमारे रंगरूप को देखना पर्याप्त है। वास्तव में ईरानियों का रंगरूप चिकना होता है, उनकी चमड़ी सुन्दर, नर्म और साफ होती है, हालाँकि उनकी प्रजा आर्मीनियन्स का रंगरूप जो यूरोपीय ढंग पर रहते हैं, खुरदुरा और चिकोत्ता होता है और उनका शरीर रुक्ष और स्थूल होता है।"

जितना हम भूमध्य रेखा के समीप पहुँचते हैं उतना ही लोग अपने जीवन के लिये कम उपभुक्त करते हैं। वे मांस खाते ही नहीं। उनके साधारण खाद्य चावल, मकई, कुज़ कुज़ और कैसावा होते हैं। भारत में लाखों मनुष्य ऐसे हैं जिनकी दैनिक खुराक पर आधा पैसा भी नहीं खर्च होता। यूरोप में भी हम उत्तरीय और दक्षिणीय राष्ट्रों की क्षुधा में प्रत्यक्ष अंतर देख सकते हैं। स्पेन का निवासी जर्मन निवासी के दैनिक भोजन पर आठ दिन तक निर्वाह कर सकता है। उन देशों में जहाँ मनुष्य महाशनी हैं विलास उपभोग की वस्तुओं में निहित होता है। इंगलैण्ड में विलास का प्रदर्शन भाँति भाँति के मांस द्वारा भूषित मेज से किया जाता है, इटली में उत्सव का माध्यम मिठाई और पुष्प होते हैं।

इसके अतिरिक्त कपड़ों के क्षेत्र में भी विलास में यही अंतर होते हैं। ऐसी जलवायु में जहाँ ऋतुओं का परिवर्तन आकस्मिक और उग्र होता हो, पोशाक उत्तमतर और

सरलतर होती है; उस जलवायु में जहाँ लोग केवल सजावट के लिये कपड़ा पहनते हैं उपयोगिता की अपेक्षा शोभा का अधिक विचार होता है क्योंकि उस क्षेत्र में वस्त्रों का उपभोग ही एक विलास है। नेपल्स में आपको प्रतिदिन ऐसे मनुष्य दिखाई देंगे जो पोसिलिपो के मार्ग पर ज़री के काढ़े हुए कोट पहने घूमते होंगे परन्तु नीचे कुछ नहीं। भवनों के संबंध में भी यही बात है; जब वायुमंडल से किसी क्षति का भय न हो तो शोभा के निमित्त अन्य प्रत्येक वस्तु त्याग दी जाती है। पेरिस और लंदन में लोगों के लिये गरम और सुविधाजनक भवन अनिवार्य होते हैं। मैड्रिड में लोगों की बैठकें तो बहुत आकर्षक होती हैं परन्तु बन्द होनेवाली खिड़कियों का निरन्तर अभाव होता है तथा वे सोते बहुत छोटी कोठरी में हैं।

उष्ण देशों में भोजन अधिक सारपूर्ण और पौष्टिक होता है; यह तीसरा अंतर है जो दूसरे पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। उदाहरणार्थ, इटली में लोग इतनी सब्जियाँ क्यों खाते हैं, क्योंकि वे सुन्दर, स्वादिष्ट और पौष्टिक होती हैं। फ्रांस में सब्जियाँ केवल पानी पर ही उगती हैं इसलिये वे पौष्टिक नहीं होतीं और मेज पर उनकी कुछ गिनती नहीं होती। परन्तु उनकी उपज में कम भूमि खर्च नहीं होती और उनकी कृषि में उतना ही श्रम लगता है जितना और वस्तुओं के कर्षण में। अनुभव से यह देखा जाता है कि बार्बरी के गेहूँ अन्य अर्थों में फ्रान्स के गेहूँ से अवर होते हुए भी ज्यादा आटा प्रदान करते हैं और इसी प्रकार फ्रांस के गेहूँ उत्तर के गेहूँ से ज्यादा आटा प्रदान करते हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि यह अनुक्रम साधारणतया भूमध्य रेखा से ध्रुव तक उसी दिशा में अवलोकित होगा। क्या समान उपज की मात्रा में पौष्टिक तत्त्व की न्यून मात्रा प्राप्त करना एक प्रत्यक्ष हानि नहीं है ?

उपर्युक्त विभिन्न विचारों में मैं एक और विचार जोड़ सकता हूँ जो उनसे उद्‌गमित होता है और उनको प्रबल करता है: वह यह कि उष्ण देशों में शीत देशों की अपेक्षा निवासीगण की आवश्यकता कम होती है चाहे वे संधारण अधिकतर संख्या का कर सकते हैं ; अतः इन देशों में दुगुनी बचत हो जाती है जिससे एकतंत्र का हित सदा पूरित होता है। जितनी अधिक भूमि निवासियों की समान संख्या द्वारा व्याप्त होगी उतना ही अधिक कठिन राजद्रोह हो जायगा, क्योंकि उपर्युक्त दशा में सत्वर और योजनाबद्ध रूप से कार्य नहीं हो सकेगा और शासन के लिये योजनाओं का पता लगाना और मार्गों का अवरोधन करना अति सुगम हो जायगा ; परन्तु अधिक जनसंख्या जितने गहन रूप में संवेष्टित होगी उतना ही अधिक शासन के लिये सार्वभौमिक सत्ता पर बलाधिकार प्राप्त करना कठिन होगा ; राजक अपने मंत्रिमंडल से इतनी निश्चिंतता से

मंत्रणा कर सकते हैं जितना कि शासनाधिकारी अपनी परिषद् से, और जनसमूह नगर चौकों में उतनी ही त्वरता से समवेत हो सकेगा जितनी त्वरता से सेना अपने निवासस्थान पर एकत्रित होगी। इसलिये अत्याचारी शासन को यह लाभ प्राप्त होता है कि वह बहुत फासलों पर काम करता है। सहायता विन्दुओं की मदद से जिन्हें यह उपार्जित कर लेता है इसकी शक्ति उत्तोलन दंड की भाँति फासले के अनुपात से बढ़ जाती है।[1] इसके विपरीत प्रजा की शक्ति तभी प्रभावित होती है जब वह संकेन्द्रित हो[2]; ज्योंही यह विस्तृत हो जाती है भूमि पर बिखरे हुए बारूद की भाँति, जिसे आग दाना दाना करके दगती है, यह शक्ति वाष्पवत् लुप्त हो जाती है। इसलिए न्यूनतम वासित देश अत्याचार के लिये सबसे अधिक उपयुक्त होते हैं; वन्य पशु केवल वनों में ही शासन करते हैं।

१ इससे जो बड़े राज्यों की असुविधा के संबंध में मैं पहले कह चुका हूँ (पुस्तक २, परि० ९) उसका प्रतिशोध नहीं होता, क्योंकि वहाँ शासन के अपने सदस्यों पर प्रभुत्व का प्रश्न था और यहाँ शासन की अपनी प्रजा के विरुद्ध शक्ति का प्रश्न है। शासन के बिखरे हुए सदस्य प्रजा पर फासले से क्रिया करने के हेतु सहायताबिंदु रूप में कार्य करते हैं परन्तु शासन को स्वतः सदस्यों पर क्रिया करने के लिये कोई सहायता के बिन्दु प्राप्त नहीं होते। इसलिए उत्तोलन दंड की लंबाई प्रथम दशा में दुर्बलता का और द्वितीय दशा में बल का कारण बन जाती है।

२ इस अभ्युक्ति पर ही मार्क्स ने अपनी महान् और न्याययुक्त धारणा स्थापित की, कि श्रमजीवी वर्ग को सँकेन्द्रित करके पूँजीपति उसका राजनीतिक बल ही बढ़ाते हैं।

परिच्छेद ६

अच्छे शासन के चिह्न

इसलिए निरपेक्षतः यह पूछना कि उत्तमतम शासन कौन-सा है, ऐसा प्रश्न उपस्थित करना है जिसका हल तथा निश्चयन असंभव है ; अर्थात् यों कहिये कि इस प्रश्न के इतने समुचित हल हैं जितने राष्ट्रों की निरपेक्ष तथा सापेक्ष स्थितियों के संभाव्य संयोजन।

परन्तु यदि यह पूछा जाय कि किस चिह्न द्वारा यह ज्ञात हो सकता है कि कोई राष्ट्र विशेष सुचारु अथवा बुरे प्रकार से प्रशासित है तो अलग विषय होगा, और तथ्य के प्रश्न का निश्चयन करना संभव हो जायगा।

परन्तु यह प्रश्न भी पूरी तरह व्यवस्थित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इसका निर्णय अपनी दृष्टि के अनुसार करना चाहता है। प्रजा सार्वजनिक शान्ति की प्रशंसा करती है, नागरिक वैयक्तिक स्वतंत्रता की; प्रजा सम्पत्ति के परिरक्षण को अधिमान्य करती है, नागरिक शरीर के परिरक्षण को; प्रजा यह चाहती है कि उत्तमतम शासन कठोरतम हो, नागरिक चाहते हैं कि उत्तमतम शासन दयालुतम हो; एक पक्ष यह चाहता है कि अपराधों को दंडित किया जाना चाहिये और दूसरा पक्ष चाहता है कि अपराधों का निवारण किया जाना चाहिये ; एक पक्ष की मान्यता है कि पड़ोसियों द्वारा आशंकित होना चाहिये, दूसरे पक्ष को यह अच्छा लगता है कि पड़ोसियों से अपरिचित ही रहें ; एक पक्ष का संतोष द्रव्य के परिवहित रहने से होता है, दूसरे पक्ष की माँग है कि लोगों के पास रोटी होनी चाहिये। यदि उपर्युक्त तथा अन्य बिन्दुओं पर मतैक्य भी हो जाय तो क्या अधिक प्रगति हो जायगी ? नैतिक गुणों के माप की कोई निश्चित रीति ही नहीं है ; यदि लोग चिह्न के संबंध में सहमत भी हो जायँ, तो उस चिह्न के मूल्यांकन के संबंध में वे कैसे एकमत हो सकेंगे ?

जहाँ तक मेरी धारणा का प्रश्न है, मैं सदैव चकित होता हूँ कि लोग इतने सरल चिह्न को पहचानने में, असफल हों अथवा वे इसके संबंध में सहमत न होने का कपट करें। राजनीतिक साहचर्य का प्रयोजन क्या है ? अपने सदस्यों का परिरक्षण और वैभव; और इस तथ्य का कि वे परिरक्षित एवं वैभवशाली हैं, सबसे निश्चित चिह्न क्या है ? यह है उनके अंकों का परिणाम और उनकी जनसंख्या। इसलिये वह शासन अनिवार्य रूप से उत्तमतम है जिसके अंतर्गत अन्य तथ्य समान रहते हुए बिना बाह्य सहायता के बिना देशीयकरण और उपनिवेशों के नागरिक बढ़ जाते और गुणित हो जाते हैं। वह शासन सबसे खराब है जिसके अंतर्गत लोग न्यून हो जाते हैं अथवा विनष्ट हो जाते हैं। सांख्यिको, अब यह आपका काम है कि आप संगणना करें, मापित करें और तुलना करें।[1]

१ उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही शताब्दियों का निर्णय होना चाहिये कि मानव जाति के वैभव की दृष्टि से कौन सी अधिमान्यता के योग्य हैं। साहित्य तथा कला के कर्षण के गुप्त हेतु को घोषित किये बिना, और इनके घातक परिणामों पर विचार किये बिना बहुधा उन शताब्दियों को प्रशंसित किया गया है जिनमें साहित्य और कला का विकास होता दिखाई दिया, और "अनभिज्ञ लोगों ने इसे सभ्यता कहना आरंभ किया हालाँकि यह उनके दासत्व का खंड मात्र ही था।" क्या हम कभी भी पुस्तकों के सिद्धान्त में उस सकल निजी हित का पता न लगा सकेंगे जिसके कारण लेखकगण सिद्धान्तों को प्रस्थापित करते हैं ? इसके अतिरिक्त कोई क्या कहे, क्योंकि जब उनके देदीप्यमान कथन के समक्ष ही देश निर्जनीकृत हो रहा हो यह मानना असत्य होगा कि देश का कल्याण हो रहा है और किसी युग के सर्वोत्तम होने के लिये यह पर्याप्त नहीं है कि उसमें किसी कवि की आय एक लाख रुपये है। मुख्य पुरुषों के आभासी सुख और शान्ति को समस्त राष्ट्र में कल्याण तथा विशेषकर अति बहुसंख्यक राज्यों की अपेक्षा न्यून समझना चाहिये। शिलावृष्टि कतिपय उपमंडलों को विनष्ट कर सकती है परन्तु यह दुष्प्राप्यता को सम्पादित नहीं करती। उपद्रव और गृहयुद्ध मुख्य पुरुषों को बहुत चकित करते हैं, परन्तु राष्ट्रों के वास्तविक दुर्भाग्यों का निर्माण नहीं करते, और जब इस पर विवाद चल रहा हो कि इन राष्ट्रों पर कौन अत्याचार करेगा, यह कलह और गृहयुद्ध बन्द भी हो सकते हैं। यह तो देशों की शाश्वत परिस्थिति से निर्धारित होता है कि उनमें वास्तविक वैभव अथवा संकट का निर्माण होगा; जब जुए के अधीन सबको दलित

किया जाता हो, तभी सर्वनाश होता है; मुख्य पुरुष फुरसत से उन्हें विनष्ट करते हुए जहाँ वे निर्जनता उत्पादित करते हैं उसे शान्ति पुकारने लगते हैं। जब मुख्य पुरुषों के कलह फ्रान्स के राज्य को क्षोभित कर रहे थे और पेरिस का सहायक पार्लियामेन्ट में जेब में खंजर रखकर जाता था तो भी फ्रांसीसी राष्ट्र के प्रसन्नतापूर्वक और संध्वनित होकर स्वतंत्र और सम्माननीय रहने में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई। इसी प्रकार प्राचीन यूनान अति निर्दयी युद्धों के बीच संवर्धित होता गया ; नदियों में रक्त बहता था, और समस्त देश मनुष्यों से परिपूर्ण था। मैक्यावली ने कहा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि हत्याओं, बहिष्कारों और गृहयुद्धों के बीच हमारा गणराज्य अधिक शक्तिशाली हो गया; अपेक्षा इसके कि कलह इसे दुर्बल बनाते, नागरिकों के गुण, उनकी रीतियाँ और उनकी स्वतंत्रता इसे प्रबल बनाने में अधिक प्रभावशील हुए। थोड़ा सा आन्दोलन मनुष्यों के मस्तिष्क को चेतना देता है, और जो किसी जाति को वास्तविक रूप में वैभवशाली बनाती है वह शान्ति नहीं बल्कि स्वतंत्रता होती है।

परिच्छेद १०

शासन का दुरुपयोग और उसके नष्टधर्म होने की प्रवृत्ति

जैसे विशिष्ट प्रेरणा निरंतर सर्वसाधारण प्रेरणा के विरुद्ध कार्य करती है उसी प्रकार शासन सार्वभौमिक सत्ता के विरुद्ध सतत् सचेष्ट रहता है। जितनी अधिक यह सचेष्टता बढ़ जाती है उतना ही अधिक संविधान संपरिवर्त्तित होता जाता है, और क्योंकि इस दशा में कोई ऐसी संसृप्ट प्रेरणा नहीं होती जो शासनाधिकारी का रोध करके इसके प्रति साम्य स्थापित कर दे तो आज अथवा कल ऐसा होना अनिवार्य है कि शासनाधिकारी सार्वभौमिक सत्ता को वश में करके अन्त में सामाजिक बन्ध का उल्लंघन कर देगा। उपर्युक्त ही वह स्वाभाविक और अनिवार्य दोष है जो राजनीतिक निकाय की उत्पत्ति से ही इसे विनप्ट करने को सतत् प्रवृत्त रहता है जैसे वृद्धावस्था और मृत्यु मनुष्य-देह को अन्त में विनप्ट कर देती है।

दो साधारण दशाएँ हैं जिनमें शासन भ्रष्टधर्म हो जाता है, अर्थात् जब शासन संकुचित होता है, अथवा जब राज्य लुप्त होता है।

शासन तब संकुचित होता है जब यह बहुसंख्यक से अल्पसंख्यक को अर्थात् जनतंत्र से शिप्ट जनतंत्र को और शिष्ट जनतंत्र से राजतंत्र को प्राप्त हो जाय। यह शासन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।[1] यदि शासन अल्पसंख्या से बहुसंख्या को प्रतीपगमन करता

१ निज उपह्रदों में वेनिस का मंथर निर्माण तथा उसकी प्रगति उपर्युक्त अनुक्रम का एक विशिष्ट उदाहरण है और वास्तव में यह चकित कर देनेवाली बात है कि बारह सौ वर्ष के पश्चात् भी वेनिस के लोग अभी केवल दूसरी प्रक्रम में ही उपस्थित हैं जिनका आरंभ सन् ११९८ में ग्रेट कौंसिलों की समाप्ति से हुआ था। जहाँ तक प्राचीन ड्यूकों का संबंध है जिनके नाम से वेनिस वालों को तिरस्कृत किया जाता है यह प्रमाणित है कि (Squittino della liberta veneta)

तो कहा जा सकता था कि शासन विस्तृत हो गया है, परन्तु ऐसा प्रतीपित गमन असंभव है।

वास्तव में शासन तब तक अपना रूप नहीं बदलता जब तक उसका तेज निःशेषित हो जाने के कारण वह स्वतः को परिरक्षित करने हेतु अति निर्बल नहीं हो जाता। और जब शासन का प्रसार होने के साथ साथ वह शिथिल हो जाय तो उसका बल विनष्ट और उसका जीवित रहना कठिन हो जाता है। इसलिए जब शासन का तेज क्षीण होने लगे तो उसे संकेन्द्रित करना आवश्यक है, नहीं तो जिस राज्य को वह संधृत करता है वह ध्वंसावशेष हो जायगा।

राज्य का विलयन दो प्रकार से होता है।

प्रथम जब शासनाधिकारी राज्य पर विधानानुसार प्रशासन करना छोड़ दे और सार्वभौमिक सत्ता पर बलाधिकार कर ले। तब एक विलक्षण परिवर्तन घटित होता है, अर्थात् न केवल शासन बल्कि राज्य संकुचित हो जाता है। मेरा अर्थ है कि महान् राज्य लुप्त हो जाता है। और इसके अंतर्गत एक दूसरे राज्य की स्थापना हो जाती है जो केवल शासन के सदस्यों द्वारा ही निर्मित होता है और अन्य प्रजा की दृष्टि में स्वामी और अत्याचारी के अतिरिक्त किसी और प्रयोजन की पूर्ति नहीं करता। इसलिये जब शासन सार्वभौमिक सत्ता पर बलाधिकार कर लेता है तो सामाजिक पाषण भग्न हो जाता है, और सब साधारण नागरिक अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त कर लेने के कारण, आज्ञानशासन के लिये नीतिबद्ध नहीं रहते परन्तु बाध्य किये जाते हैं।

यही स्थिति तब उत्पन्न हो जाती है तब शासन के सदस्य अपनी शक्ति को जो साम्मलित रूप में प्रयुक्त करनी चाहिये, पृथक् रूप में प्रयुक्त करने लगते हैं। इस स्थिति में भी विधानों का उतना ही उल्लंघन होता है और कहीं अधिक अव्यवस्था घटित होती है। ऐसा कहना चाहिये कि इस स्थिति में शासनाधिकारियों की संख्या दंडाधिकारियों के बराबर हो जाती है और राज्य, शासन के समान ही विभाजित होने के कारण, विनष्ट हो जाता है और अपने रूप को बदल लेता है।

कुछ भी कहे, वे उनके सार्वभौमिक सत्ताधिकारी नहीं थे। (इस पुस्तक का प्रकाशन १६१२ में हुआ था और इस प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य यह था कि वेनिस गणराज्य पर सम्राट् के अधिकार सिद्ध किये जायँ।)

जब राज्य भग्न हो जाता है तो शासन का दुष्प्रयोग, उसका रूप कैसा भी हो, अराजकता का साधारण नाम धारित कर लेता है। स्पष्ट अंतर करने के हेतु यह कहा जा सकता है कि भ्रष्टरूप प्रजातंत्र जनसंकुल राज्य हो जाता है और भ्रष्टरूप शिष्ट जनतंत्र अल्पजनशासित राज्य हो जाता है : मैं जोड़ूँगा कि राजतंत्र अत्याचार में कुपरिणत हो जाता है, परन्तु अत्याचार शब्द संदिग्धार्थक है और इसकी व्याख्या करना आवश्यक है।

लौकिक अर्थ में अत्याचारी ऐसे राजा को कहते हैं जो हिंसा और न्याय और विधानों की उपेक्षा करके शासन करे। वास्तविक अर्थ में अत्याचारी वह व्यक्ति है जो अनधिकार-जन्य प्रभुत्व को स्वतः ग्रहण कर लेता है। यूनानी लोग अत्याचारी का प्रयोग इसी अर्थ में करते थे ; वे अच्छे और बुरे सब राजकों के लिये, जिनका प्रभुत्व न्याय हो, निरपेक्षरूप से इस शब्द को प्रयुक्त करते थे।[१] इसलिये अत्याचारी और बलाधिकारी यह दोनों शब्द पूर्णतया पर्यायवाची हैं।

भिन्न वस्तुओं को पृथक् नाम देने की दृष्टि में, मैं राजन्य प्रभुत्व पर बलाधिकार करनेवाले को अत्याचारी और सार्वभौमिक सत्ता पर बलाधिकार करनेवाले को स्वेच्छाचारी कहता हुँ। अत्याचारी वह होता है जो विधानों के विपरीत विधानानुसार प्रशासन करने का उत्तरदायित्व ग्रहण करे, स्वेच्छाचारी वह होता है जो स्वयं विधानों के ऊपर स्वतः को संस्थापित कर ले। इस प्रकार अत्याचारी स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता परन्तु स्वेच्छाचारी सदा ही अत्याचारी होता है।

१. लोग मेरे मत का खंडन करने के हेतु रोम के गणराज्य का उदाहरण देने में संकोच नहीं करेंगे और कहेंगे कि इस गणराज्य ने बिलकुल विपरीत क्रम अनुसरित किया था, अर्थात् राजतंत्र से शिष्ट जनतंत्र और शिष्ट जनतंत्र से प्रजातंत्र बना था. परन्तु मैं इस दृष्टि से सहमत नहीं हूँ।

रोम्यूलस द्वारा स्थापित प्रथम संस्था एक मिश्रित शासन था जो सत्वर ही स्वेच्छातंत्र में कुपरिणत हो गया। कुछ विशिष्ट कारणों से राष्ट्र समय के पूर्व ही विनष्ट हो गया जैसे हम कई बार नवजात शिशु को भोजन-प्राप्ति के पूर्व ही मरता देखते हैं। गणराज्य की उत्पत्ति का वास्तविक युगारम्भ तार्क्विन्स का निष्कासन था परन्तु सर्वप्रथम इसने कोई नियमित रूप धारण नहीं किया क्योंकि कुलीन जाति को उत्साहित न करने के कारण इसका कार्य अभी आधी मात्रा में ही हुआ था। इस अवस्था में पैतृक शिष्ट जनतंत्र, जो न्यायी प्रशासनों का सबसे दोषपूर्ण रूप है, प्रजातंत्र के सतत विरोध में रहने के कारण स्वभावतः अनिश्चित और अस्थिर शासन, जैसे मैक्यावली ने प्रमाणित

किया है, केवल जनरक्षकों की संस्था पर आधारित किया गया। वास्तविक शासन और सच्चा जनतंत्र वहाँ तभी स्थापित हुआ। वास्तव में उस समय लोग न केवल सार्वभौमिक सत्ताधिकारी थे बल्कि दंडाधिकारी और न्यायधीश भी थे। शिष्ट सभा शासन को परिमित और संकेन्द्रित करने के लिये केवल एक और न्यायाधिकरण थी और स्वयं राज्यपाल कुलीन वर्ग के एवं मुख्य दंडाधिकारी होते हुए भी और युद्ध में पूर्ण सत्वाधिकारी प्रमुख होते हुए भी रोम में लोगों के केवल अध्यक्ष मात्र थे।

इसके अतिरिक्त उस समय से लेकर शासन अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति का अनुसरण करता रहा और दृढ़ता से शिष्ट जनतंत्र की ओर प्रवृत्त होता रहा। कुलीन वर्ग को अपने आपको विनष्ट कर लेने के कारण शिष्ट जनतंत्र कुलीन वर्ग के निकाय में निहित नहीं रहा जैसा वेनिस और जेनेवा में था; बल्कि कुलीन तथा सामान्य वर्गों द्वारा निर्मित शिष्ट सभा के निकाय में तथा न्याय रक्षकों के निकाय में जब कि वे शक्ति का सचेष्ट रूप में बलाधिकार करने लगे, यह तंत्र सन्निहित हुआ। शब्दों से तथ्यों के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं हो जाता और जब किसी राष्ट्र में प्रशासन करने के लिये राजक होते हैं, चाहे उनका कुछ भी नाम हो, वे एक शिष्ट जनतंत्र का ही रूप होते हैं।

२ "शिष्टजनतंत्र के दुष्प्रयोग से गृह युद्धों और त्रय शासनाधिकारियों का प्रादुर्भाव हुआ। सीला, जूलियस सीजर, औगस्टस, वास्तव में यथार्थ सम्राट् बन गये और अंत में टाबेरियस के स्वेच्छातंत्र के अंतर्गत राज्य भग्न हो गया। इस प्रकार रोम का इतिहास मेरे सिद्धान्त को असत्य सिद्ध नहीं करता है बल्कि इसकी पुष्टि करता है।

"वे सब अत्याचारी माने जाते हैं और संबोधित किये जाते हैं जो किसी ऐसे राज्य में जिसने स्वतंत्रता का उपभोग किया हो, सतत शक्ति प्रयोग करने लगें।" यह सत्य है कि एरिस्टोटल अत्याचारी और राजा में यह भेद करता था कि अत्याचारी निजी हित के लिये प्रशासन करता है और राजा अपनी प्रजा के हित के लिये। परन्तु इस तथ्य के अतिरिक्त कि सामान्यतः सब ग्रीक लेखकों ने अत्याचारी शब्द को दूसरे अर्थों में प्रयुक्त किया है जैसे सेनोफन के हायरों से विशेषतया सिद्ध होता है। अरस्तू द्वारा किये गये भेद से यह भी सिद्ध होगा कि विश्व के आरंभ से लेकर अभी तक किसी राजा का अस्तित्व नहीं हुआ।

परिच्छेद ११

राजनीतिक निकाय का निधन

उत्तमतम निर्मित शासनों की यही स्वाभाविक और अनिवार्य वृत्ति होती है। यदि स्पार्टा और रोम नष्ट हो गये तो कौन राष्ट्र सदा टिकने की आशा कर सकता है। यदि हम स्थायी संविधान का निर्माण करना चाहते हों तो हमें इसे शाश्वत बनाने का स्वप्न नहीं देखना चाहिये। सफलता प्राप्त करने के लिये असंभव की चेष्टा करना ठीक नहीं, न यह मिथ्याभिमान करना ठीक है कि हम मनुष्यों के कार्य को कोई ऐसी सान्द्रता प्रदान कर रहे हैं जो मानवीय वस्तुओं के लिये असम्भव है।

मानवीय शरीर की भाँति राजनीतिक निकाय का भी, उत्पत्ति के समय से ही, मरण शुरू हो जाता है और इसके अपने ही भीतर विनाश के कारण वर्तमान होते हैं। परन्तु दोनों का संविधान न्यूनाधिक पुष्ट और उन्हें अधिक या न्यून समय तक परिरक्षित करने के लिये सामर्थ्यवान हो सकता है। मनुष्य की रचना प्रकृति की क्रिया है, और राज्य का संविधान मानवीय कला की क्रिया है। मनुष्यों के लिये अपना जीवन बढ़ाना संभव नहीं, परन्तु उत्तमतम संभाव्य संविधान के प्रदान करने से राज्य को दीर्घजीवी करना अवश्य संभव है। उत्तमतम-संविधान-प्राप्त राज्य का भी अंत होगा परन्तु इतनी जल्दी नहीं जितना किसी अन्य का, यदि किसी अदृष्ट घटना से इसका समय के पूर्व विनाश न हो जाय।

राजनीतिक जीवन का सिद्धान्त सार्वभौमिक सत्ता के प्रभुत्व में निहित है। विधायी शक्ति राज्य का हृदय होती है, अधिशासी शक्ति इसका मस्तिष्क, जो सब भागों को गति प्रदान करती है। मस्तिष्क स्तंभित हो जाने पर भी व्यक्ति जीवित रह सकता है। मनुष्य मूढ़मति होकर भी जीवित रह सकता है, परन्तु जब हृदय अपना कार्य छोड़ देता है, तो जीव मर जाता है।

राज्य विधानों से निर्वाहित न होकर विधायी शक्ति से निर्वाहित होता है। कल का विधान आज लागू नहीं रहता, तब भी मौन स्वीकृति मूकता से अनुमानित होती है और सार्वभौमिक सत्ता उन विधानों को निरंतर पुष्ट करती हुई मानी जाती है जिन्हें शक्ति होते हुए भी यह निराकृत नहीं करती। जिस प्रकार की प्रेरणा सार्वभौमिक प्रेरणा द्वारा एक बार उद्घोषित कर दी जाती है वही प्रेरणा उसकी सतत् समझी जायगी जब तक कि वह इस उद्घोषणा को निरस्त न कर दे।

तो लोग प्राचीन विधानों के प्रति इतना आदर क्यों प्रदर्शित करते हैं? उनकी प्राचीनता के कारण यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि प्राचीन विधानों की उत्कृष्टता के कारण ही वे इतने लंबे समय तक परिरक्षित रह सके हैं; यदि सार्वभौमिक सत्ता उन्हें निरंतर रूप में हितकर न समझती तो वह उन्हें हजारों बार निरस्त कर देती। इसी कारण प्रत्येक सुसंविधित राज्य में विधान दुर्बल होने के बजाय, हमेशा नवीन ओज अवाप्त करते रहते हैं; प्राचीनता की पक्षप्रतिकूलता प्रतिदिन उन्हें अधिक पूज्य बना देती है। इसलिए जहाँ पुराने होने पर विधान दुर्बल होने लगते हों, यह सिद्ध हो जाता है कि वहाँ विधायी-शक्ति का अभाव है और राज्य जीवित नहीं रह गया है।

परिच्छेद १२

सार्वभौमिक सत्ता किस प्रकार संधृत होती है (१)

विधायी शक्ति के अतिरिक्त सार्वभौमिक सत्ता का कोई अन्य बल न होने के कारण वह विधान द्वारा ही कार्यशील होती है ; और विधान सर्वसाधारण प्रेरणा के प्रमाणित कार्यों के अतिरिक्त अन्य कुछ न होने के कारण सार्वभौमिक सत्ता तभी कार्यशील हो सकती है जब लोग समवेत हों । लोगों का समवेत होना, यह कहा जायगा कि, यह सर्वथा असंभव है । आज यह असंभव लगता है, परन्तु दो हजार वर्ष पूर्व यह असंभव नहीं था । लोगों का स्वभाव कैसा परिवर्तित हो गया है ?

नैतिक वस्तुओं में संभाव्य की सीमाएँ जितना हम समझते हैं उससे कम संकुचित होती हैं । यह हमारी निजी दुर्बलताएँ, हमारे दोष और हमारी प्रतिकूलताएँ हैं जो उन्हें संकुचित बनाती हैं । मलीन आत्माएँ महान् पुरुषों के अस्तित्व को ही नहीं मानतीं ; कपटी दास शब्द स्वतंत्रता पर तिरस्कार भावना से हँसते हैं ।

जो पूर्व में किया जा चुका है, उससे हमें यह समझना चाहिये कि आगे क्या किया जा सकता है । मैं यूनानी प्राचीन गणराज्यों की बात नहीं करूँगा ; परन्तु मेरी दृष्टि में रोम का गणराज्य भी एक बड़ा राज्य था और रोम का नगर एक बड़ा नगर । रोम की अंतिम जनगणना से यह पता लगा कि नगर में चार लाख नागरिक हथियार धारण किये हुए थे और साम्राज्य की अन्तिम गणना से पता चला कि समस्त नागरिकों की संख्या, प्रजा, विदेशी स्त्रियाँ, बच्चे व दास सम्मिलित किये बिना,चालीस लाख थी ।

हम अनुमान करेंगे कि राजधानी और इसके उपांतों की महान् जनसंख्या को बारंबार समवेत करने में कितनी कठिनाई होती होगी । परन्तु रोम के लोगों के संग्रहीत हुए बिना, और कई बार संग्रहीत हुए बिना, कुछ सप्ताह तक नहीं गुजरते थे । इसके अतिरिक्त, संग्रहीत लोग केवल सार्वभौमिक सत्ता के अधिकारों का ही प्रयोग नहीं करते थे, परन्तु शासन की कुछ शक्तियों का उपभोग भी करते थे । वे कतिपय

कार्यों पर विवेचन करते थे, कतिपय प्रकरणों का न्याय करते थे, और सार्वजनिक सभा में संग्रहीत लोग नागरिक होने के साथ साथ दंडाधिकारी रूप में भी कार्य करते थे।

राष्ट्रों के आद्यकाल का अवलोकन करने से हमें पता चलता है कि अधिकतर प्राचीन शासनों में, यहाँ तक कि राजतंत्रात्मक शासनों में भी, उदाहरणार्थ मैसेडोनिया और फ्रैंकों में, इसी प्रकार की सभाएँ थीं। यह एक मात्र निर्विवाद तथ्य सब कठिनाइयों को हल कर देता है। मुझे वास्तविक से संभाव्य का तर्क करना उचित प्रतीत होता है।

परिच्छेद १३

सार्वभौमिक सत्ता किस प्रकार संधृत होती है (२)

समवेत जनसमूह द्वारा विधि-निकाय को स्वीकृत करके राज्य का संविधान एक बार स्थापित कर देना पर्याप्त नहीं है ; न यह पर्याप्त है कि समवेत जनसमूह किसी शाश्वत शासन को संस्थापित करे, अथवा दंडाधिकारियों के निर्वाचन का सदा के लिये प्रावधान कर डाले। असाधारण सम्मेलनों के अतिरिक्त जो अदृष्ट घटनाओं से आवश्यक हो जाते हैं, निश्चित और नियतकालिक सम्मेलनों का होना भी आवश्यक है जो किसी के द्वारा भी उत्सादित और सत्रावसित न हो सकें ताकि नियत दिनांक को विधान के अन्तर्गत बिना किसी नियमित आह्वान की आवश्यकता हुए लोग साधिकार समवेत हो सकें ।

परन्तु इन सम्मेलनों के अतिरिक्त जो इनके दिनांक के आधार पर न्यायसंगत हैं प्रत्येक जनसमूह का सम्मिलन जिसे उस कार्य हेतु नियुक्त दंडाधिकारियों द्वारा निर्धारित रीति के अनुसार न बुलाया गया हो, अवैधानिक मानना चाहिये, और जो कार्य इस सम्मेलन द्वारा सम्पादित हुआ हो वह न्याय विरुद्ध मानना चाहिये ; क्योंकि सम्मिलित होने का आदेश भी विधान से ही उद्‌गमित होना न्यायसंगत होता है ।

जहाँ तक न्यायसंगत सम्मेलनों के बार बार अधिवेशन का संबंध है, उसका निर्धारण इतने अनेक विचारों पर आधारित होता है कि कोई निश्चित नियम स्थापित नहीं किया जा सकता । केवल साधारणतया इतना कहा जा सकता है कि शासन का जितना अधिक बल हो उतनी ही अधिक बार सार्वभौमिक सत्ता को अपना प्रदर्शन करना चाहिये ।

कोई कह सकता है कि यह किसी एकल नगर के लिये ही उत्तम हो सकता है परन्तु जब राज्य में अनेक नगर हों तो क्या किया जायगा ? क्या सार्वभौमिक सत्ता का

विभाजन किया जायगा ? अथवा इसे किसी नगर में संकेन्द्रित कर अन्य सबको इसके अधीन कर दिया जायगा ?

मेरा उत्तर है कि उपर्युक्त दोनों विकल्प अनावश्यक हैं। प्रथमतः सार्वभौमिक सत्ता सरल और अविभक्त है और इसे विनष्ट किये बिना विभाजित नहीं किया जा सकता। दूसरे एक नगर राष्ट्र की तरह ही वैधानिक तौर पर किसी अन्य के अधीन नहीं हो सकता, क्योंकि राजनीतिक निकाय का तत्त्व आज्ञानुशीलन और स्वतंत्रता के सम्मेलन में सन्निहित होता है और उपर्युक्त शब्द, अर्थात् प्रजा और सार्वभौमिक सत्ता, सहसंबंधित हैं, जिनके आधारभूत भाव एक शब्द नागरिक से व्यक्त होते हैं।

इसके अतिरिक्त मेरा यह उत्तर है कि अनेक नगरों को किसी एकल राष्ट्र में सम्मिलित करना सदा दोषपूर्ण होता है और कि इस प्रकार का सम्मेलन स्थापित करने की अभिलाषा करते हुए हमें यह मिथ्याभिमान नहीं करना चाहिये कि हम इस सम्मेलन की स्वाभाविक असुविधाओं को वर्जित कर सकेंगे। बड़े राज्यों के दुष्प्रयोग किसी ऐसे मनुष्य के प्रति जो स्वयं छोटे राज्यों का पक्षपाती हो, आक्षेप के रूप में प्रस्तुत नहीं किये जा सकते; परन्तु बड़े राज्यों का अवरोध करने के लिये छोटे राज्यों को पर्याप्त बल से कैसे युक्त किया जा सकता है ? ठीक उसी प्रकार जैसे प्राचीन यूनानी नगरों ने महान् (ईरानी) राजा का अवरोध किया था और जैसे अभी हाल में हालैण्ड और स्विट्ज़रलैण्ड ने आस्ट्रिया राज्य के वंश का अवरोध किया है।

परन्तु, यदि राज्य को उचित सीमा तक घटाया नहीं जा सकता हो, तो एक अन्य रीति अपनाई जा सकती है। वह यह है कि कोई राजधानी न बनाई जाय बल्कि शासकीय अधिष्ठान प्रत्येक नगर में बारी बारी से स्थापित रहे और क्रम से उन्हीं नगरों में देश की वर्ग-सभाएँ भी समवेत हों।

भूमि पर एकसम जनसंख्या हो, हर जगह में समान अधिकार प्रसारित हों और हर क्षेत्र में बाहुल्य और चेतना व्याप्त हो; इस प्रकार राष्ट्र सबसे शक्तिशाली और श्रेष्ठतम प्रशासित बन जायगा। स्मरण रखो कि नगरों की भित्तियाँ देश के भवनों के अवशेष मात्र से ही निर्मित होती हैं। जब मैं किसी राजधानी में किसी महल का निर्माण देखता हूँ तो मुझे किसी संपूर्ण खंडित ग्रामीण क्षेत्र का ध्यान आता है।

परिच्छेद १४

सार्वभौमिक सत्ता किस प्रकार संधृत होती है (३)

ज्यों ही लोग सार्वभौम सभा के रूप में न्यायसंगत रीति से संग्रहीत होते हैं, शासन के समस्त अधिकार रुक जाते हैं ; अधिशासी शक्ति स्थगित हो जाती है ; और क्षुद्रतम नागरिक का शरीर इतना प्रतिष्ठित और अनतिक्रम्य हो जाता है जितना कि मुख्य दंडाधिकारी का, क्योंकि जहाँ प्रतिनिहित स्वयं उपस्थित होते हैं वहाँ किसी प्रतिनिधि का अस्तित्व नहीं रहता । रोम की परिषद् में जो कोलाहल हुए, वे सब इस नियम के अज्ञान अथवा उपेक्षा के कारण हुए । स्थितिविशेष में राज्यपाल केवल लोगों के अध्यक्ष मात्र और न्यायरक्षक सुवक्ता मात्र रह गये थे[१] और शिष्ट सभा की कोई शक्ति नहीं रह गयी थी ।

स्थगन के यह मध्यान्तर जिनमें शासनाधिकारी किसी वरिष्ट के अस्तित्व को मानता है अथवा उसे मानना अनिवार्य हो जाता है, शासनाधिकारी द्वारा सदा त्रसित होते हैं ; तथा लोगों की यह परिषदें जो राजनीतिक निकाय की ढाल और शासन की नियंत्रक रूप होती हैं, वरिष्टाधिकारियों द्वारा सब युगों में शंकित हुई हैं । इसलिये ये वरिष्टाधिकारी नागरिकों को परिषदों से विरक्त करने की चेष्टा में उत्कंठा, आपत्तियाँ, बाधाएँ और प्रतिज्ञाएँ सबका प्रयोग मुक्त हस्त से करते हैं । जब नागरिक लालची, डरपोक, दीन और स्वतंत्रता की अपेक्षा अभिशयन के अधिक इच्छुक होते हैं, तो शासन की पुनरावृत्ति चेष्टाओं के विरुद्ध यह देर तक संधृत नहीं रह सकते ; और इसलिए जैसे

१ प्रायः उसी अर्थ में जिसमें इस शब्द का प्रयोग अंग्रेजी पार्लमेण्ट में किया जाता है । यदि समस्त अधिकार-क्षेत्र स्थगित भी कर दिये जाएँ, तो राज्यपालों तथा न्यायरक्षकों के पदों का सादृश्य मात्र उनमें संघर्ष स्थापित कर देता ।

ैसे अवरोधक शक्ति निरंतर बढ़ती जाती है उसी प्रकार अंत में सार्वभौमिक सत्ता लुप्त ्ोती जाती है, तथा अधिकतर राज्य अपने समय के पूर्व ही क्षीण और विनष्ट हो जाते हैं।

परन्तु सार्वभौमिक सत्ता और स्वेच्छाचारी शासन के बीच कई बार एक मध्यस्थ ल का पुरस्थापन हो जाता है जिसका मुझे विवेचन करना चाहिये।

परिच्छेद १५

प्रतिनियुक्त गण अथवा प्रतिनिधि गण

ज्यों ही राज्य का सेवन नागरिकों का मुख्य उद्यम नहीं रहता और वे अपने शरीर की अपेक्षा अपने धन से सेवा करने लग जाते हैं, राष्ट्र ह्रास के तट पर पहुँचा ही मानना चाहिये। युद्ध में सम्मिलित होने को प्रस्थान करना आवश्यक है ? वे सैनिकों को वेतन देते हैं और स्वयं घर पर रहते हैं; सभा में जाना आवश्यक है? वे प्रतिनियुक्तों को निर्वाचित कर देते हैं और स्वयं घर पर रहते हैं। आलस्य और धन के परिणामस्वरूप अंत में देश को दास बनाने के लिये वे सैनिकों का, और देश को विक्रय करने के लिये प्रतिनियुक्तों का संस्थापन कर देते हैं।

वाणिज्य और कलाओं की व्यग्रता, लाभ का लालचयुक्त अनुसरण, नारीवत् कोमलता और सुखों का प्रेम, ये वस्तुएँ हैं जिनके कारण व्यक्तिगत सेवाएँ अर्थ द्वारा विनियमित की जाती हैं। लोग अपने लाभ का एक अंश इस आशा में त्याग देते हैं कि वे अपनी सुविधानुसार इसे बढ़ा लेंगे। पैसा देना शुरू करो, और जल्दी ही दासत्व अवाप्त हो जायगा। वित्त शब्द ही दासत्व का शब्द है; नागरिक इससे अपरिचित होते हैं। ऐसे देश में जो वास्तव में स्वतंत्र हो नागरिक प्रत्येक वस्तु को अपने हाथों से करते हैं, पैसे से नहीं। अपने कर्तव्यों से विमुक्त होने के लिये पैसा देने की अपेक्षा वे अपने कर्तव्यों को स्वतः पूरा करने के लिये पैसा देते हैं। मेरे विचार साधारण विचारों से बहुत भिन्न हैं; मेरा विश्वास है कि बलात् श्रम करारोपण की अपेक्षा स्वतंत्रता के कम प्रतिकूल होता है।

जितना अधिक सुगठित राज्य होता है उतना ही अधिक नागरिकों के मन में सार्वजनिक कार्य वैयक्तिक कार्यों की अपेक्षा महत्वपूर्ण होते हैं। उपर्युक्त अवस्था में वैयक्तिक कार्यों की संख्या ही बहुत न्यून होती है, क्योंकि सर्वसाधारण वैभव प्रत्येक व्यक्ति को इतना अधिक भाग प्रदान कर देता है कि लोगों के लिये अपनी वैयक्तिक चेष्टा

से प्राप्त करने के हेतु रह ही थोड़ा जाता है। सुशासित नगर-राज्य में प्रत्येक व्यक्ति परिषदों में उपस्थित होने को उद्यत रहता है, और दुश्शासित राज्य में परिषदों में उपस्थित होने के निमित्त कोई एक कदम भी नहीं उठाता, क्योंकि उनकी कार्यवाही में किसी को दिलचस्पी नहीं होती; कारण यह है कि सबको पूर्वाभास होता है कि सर्व-साधारण प्रेरणा कार्यान्वित न होगी, और इसीलिये अंत में वैयक्तिक विषयों में सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित हो जाता है। श्रेष्ठ विधान श्रेष्ठतर विधानों का मार्गदर्शन करते हैं और दोषी विधान दोषीतर विधानों की ओर ले जाते हैं। ज्यों ही कोई व्यक्ति राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में यह कहने लगे कि "मेरे लिये उनका क्या महत्व है?" हमें समझ लेना चाहिये कि राज्य विनष्ट हो गया है।

राष्ट्र को परिषदों में लोगों के प्रतिनियुक्तों अथवा प्रतिनिधियों की योजना स्वदेशप्रेम के ह्रास के कारण, वैयक्तिक हितों के सचेष्ट अनुसरण के कारण, राज्य के अत्यधिक विस्तार के कारण, विजय के कारण और शासन के दोषों के कारण प्रस्तावित हुई। कुछ देशों में इसे तृतीय वर्ग कहने की धृष्टता की जाती है। अर्थात् पहिले दो वर्गों में उन वर्गों के वैयक्तिक हितों को निहित समझा जाता है और केवल इस तीसरे वर्ग में सार्वजनिक हित को नियासित किया जाता है।

उसी कारण से जिसके अंतर्गत सार्वभौमिक सत्ता का अन्यक्रामण नहीं हो सकता, सार्वभौमिक सत्ता का प्रतिनिधित्व भी नहीं हो सकता; सारतः सार्वभौमिक सत्ता सर्व-साधारण प्रेरणा में निहित होती है और वह प्रेरणा प्रतिनिहित नहीं हो सकती; या तो यह प्रेरणा वही होती है या उससे भिन्न होती है; कोई मध्यम स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये लोगों के प्रतिनियुक्त उनके प्रतिनिधि नहीं होते और न हो सकते हैं; वे केवल उनके आयुक्त होते हैं और उन्हें अंतिम निर्णय करने का कोई अधिकार नहीं होता। प्रत्येक विधान जो स्वतः लोगों द्वारा अनुसमर्थित न हुआ हो विधि-प्रतिकूल होता है; इसे विधान नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी राष्ट्र की धारणा है कि वे स्वतंत्र हैं, परंतु यह उनका भ्रम मात्र है; जब पार्लियामेंट के सदस्यों का निर्वाचन हो रहा हो, तब वे स्वतंत्र अवश्य होते हैं, परंतु ज्योंही सदस्य निर्वाचित हो गये तो राष्ट्र दास हो जाता है और अपना महत्त्व खो देता है। जो प्रयोग यह राष्ट्र स्वतंत्रता के उन संक्षिप्त क्षणों का करता है उससे स्वतंत्रता का ह्रास सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रतिनिधियों का निर्वाचन एक नयी कल्पना है; इसका आद्य सामंततंत्र से होता है—वह मूर्खता तथा अन्यायपूर्ण शासन जिसके अधीन मनुष्य-जाति अवनत होती है और मनुष्य का नाम अनादरित होता है। प्राचीन समय के गणराज्यों और राजतंत्रों में

भी लोग प्रतिनिधि कभी नहीं चुनते थे; उन्हें इस शब्द का ज्ञान न था। यह अद्‌भुत बात है कि रोम में जहाँ न्यायरक्षक अत्यंत पूज्य थे, इस बात की कल्पना तक नहीं आई कि वे (न्यायरक्षक) लोगों की शक्तियों पर बलाधिकार कर सकते हैं, और इतने बड़े जनसमूह के मध्य में उन्होंने किसी एक सम्पूर्ण जनमत द्वारा पारित होनेवाले आदेश को स्वेच्छानुसार पारित करने की चेष्टा नहीं की। परंतु जनसमूह द्वारा कई बार व्यग्रता उत्पादित हो जाती थी, जिसका अनुमान ग्राच्चि के समय की उस घटना से होता है जिसके अंतर्गत नागरिकों के एक भाग ने अपना मत अपने निवासस्थानों की छतों पर से अंकित किया था।

जहाँ अधिकार और स्वतंत्रता का सर्वोच्च महत्त्व होता है वहाँ असुविधाओं की कोई गणना नहीं है। उस बुद्धिशाली राष्ट्र में प्रत्येक वस्तु का उचित मूल्यांकन होता था; उसने लिक्टरों को वह कार्य करने की अनुज्ञा दी थी जो न्यायरक्षक करने का साहस नहीं करते थे; और लिक्टरों से कभी इसे यह भय नहीं हुआ कि वे कभी इसके प्रतिनिधियों के रूप में कार्य करने की चेष्टा करेंगे।

साथ ही यह स्पष्ट करने के लिये कि कभी कभी न्यायरक्षक राष्ट्र का कैसे प्रतिनिधित्व भी करते थे यह समझना पर्याप्त है कि शासन सार्वभौमिक सत्ता का किस प्रकार प्रतिनिधित्व करता है। विधान केवल सर्वसाधारण प्रेरणा की उद्‌घोषणा मात्र हैं, इसलिये यह स्पष्ट है कि विधायी क्षमता के क्षेत्र में लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता; परंतु अधिशासी शक्ति में प्रतिनिधित्व हो सकता है और होना भी चाहिये, क्योंकि अधिशासी शक्ति तो केवल विधान के प्रयोग किये हुए बल का नाम है। इससे स्पष्ट है कि सतर्क परीक्षण करने पर बहुत कम राष्ट्र विधानयुक्त पाये जाएँगे। परंतु जो भी हो, यह निश्चित है कि न्यायरक्षक, जिनका अधिशासी शक्ति में कोई भाग नहीं था, अपने पद के अधिकारों के आधार पर रोम के लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते थे, केवल शिष्ट सभा के अधिकारों पर अतिक्रमण करने के परिणामस्वरूप ही ऐसा सम्भव था।

यूनानियों में, जो लोगों को करना होता था वे स्वयं किया करते थे; वे निरंतर सार्वजनिक स्थान पर एकत्रित हुआ करते थे। उनका जलवायु नर्म था, और वे लालची नहीं थे; दास लोग शारीरिक श्रम करते थे; नागरिकों का मुख्य कार्य स्वतंत्रता उपभोग था। वही सुविधाएँ प्राप्त न होने से, अब उन अधिकारों का परिरक्षण कैसे किया जा सकता है? आपके अधिक कठोर जलवायु के कारण आपकी आवश्यकताएँ अधिक

हैं[1]। वर्ष में छः मास तक सार्वजनिक स्थान अनुपयोज्य होता है और खुली हवा में आपकी रुक्ष ध्वनि सुनी नहीं जा सकती; आप स्वतंत्रता के बजाय लाभ की अधिक अपेक्षा करते हैं और आप दुःख की अपेक्षा दासत्व से कम डरते हैं।

कोई आश्चर्य व्यक्त कर सकता है कि क्या स्वतंत्रता दासत्व की सहायता से ही संस्थापित हो सकती है? हो सकता है; क्योंकि चर्मविन्दुएँ सम्मिलित हो जाया करती हैं। प्रत्येक वस्तु जो प्रकृति के अनुसार नहीं होती असुविधाकारक होती है; और सभ्य समाज में तो अन्य सब वस्तुओं से अधिक कुछ ऐसी अभागी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें लोग अपनी स्वतंत्रता को दूसरों की स्वतंत्रता नष्ट करके ही परिरक्षित कर सकते हैं, और जिनमें दास को पूर्णतया दास बनाये बिना नागरिक पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हो सकता। स्पार्टा की यही परिस्थिति थी। वर्तमान राष्ट्रो, जहाँ तक आपका संबंध है, आप किसी को दास नहीं बनाते, परंतु आप स्वयं दास हैं; आप दासों की स्वतंत्रता के बदले अपनी निजी स्वतंत्रता को बलिदान कर देते हैं। अपनी उपर्युक्त अधिमान्यता का आप निरर्थक मिथ्याभिमान करते हैं; मुझे तो इसमें मनुष्यत्व की अपेक्षा कायरता का अधिक अंश लगता है।

मेरा उक्त कथन से यह अर्थ नहीं कि दास आवश्यक हैं, अथवा दासत्व का अधिकार न्यायसंगत है, क्योंकि मैंने तो इसके विपरीत ही प्रमाणित किया है; मैं केवल उन कारणों का उल्लेख करता हूँ जिनके अंतर्गत अपने आपको स्वतंत्र माननेवाले नवीन राष्ट्र प्रतिनिधियों को धारण करते हैं और प्राचीन राज्य धारण नहीं करते थे। कुछ भी हो, ज्योंही कोई राष्ट्र प्रतिनिधि नियुक्त कर देता है वह स्वतंत्र नहीं रहता; इसका अपना अस्तित्व तक नहीं रहता।

सतर्क विचार के अनंतर, मुझे लगता है कि सार्वभौमिक सत्ता के लिये समाज में अपने अधिकारों का उपभोग करना नितांत असम्भव होता है यदि राज्य बहुत छोटा न हो। परंतु यदि राज्य बहुत छोटा होता है, तो क्या यह पराधीन न हो जायगा?

१. किसी शीत देश में पूर्वीय लोगों की कोमलता और विलासप्रियता को अंगीकार कर लेने का अर्थ यह है कि देशवासी उन्हीं की तरह दासत्व ग्रहण करने को तैयार हैं और अनिवार्य रूप से पूर्वीय लोगों से भी अधिक इस दासत्व में स्थापित रहने को तैयार हैं।

मेरी धारणा है कि नहीं। मैं आगे चलकर प्रदर्शित करूँगा[२] कि किसी बड़े राष्ट्र की बाह्य शक्ति छोटे राज्य की सुविधाजनक रचना और सुन्दर व्यवस्था से किस प्रकार संगत की जा सकती है।

२. इस कार्य को मैं इस पुस्तक के उत्तर भाग में सम्पादित करने का विचार करता था। परन्तु विदेशीय संबंधों का विवेचन करते समय मैं प्रसंधानों पर आ गया जो एक संपूर्णतः नवीन विषय था और जिसके सिद्धान्त मुझे अभी संस्थापित करने हैं।

परिच्छेद १६

शासन का संस्थापन पाषण रूप नहीं होता

विधायी शक्ति के सुचारु रूप से संस्थापित होने के अनन्तर अधिशासी शक्ति को भी संस्थापित करना आवश्यक होता है; क्योंकि अधिशासी शक्ति, जो विशिष्ट कार्यों द्वारा क्रियाशील होती है और विधायी शक्ति का तत्वरूप नहीं होती, विधायी शक्ति से स्वभावत: विभिन्न रखी जाती है। यदि सार्वभौमिक सत्ताधिकारी को उसी रूप में अधिशासी शक्ति देना सम्भव हो जाता तो विधान और तथ्य ऐसे सम्भ्रमित हो जाते कि क्या विधान है और क्या विधान नहीं है इसका निरूपण करना सर्वथा असम्भव हो जाता और इस प्रकार विकृत हुई राजनीतिक निकाय, जिस हिंसा का अवरोध करने के लिये इसका संस्थापन हुआ है, उसी का शिकार हो जाती।

सामाजिक पाषण के अंतर्गत सब नागरिक समान होने के कारण, सब ही यह निर्धारित कर सकते हैं कि सबको क्या करना है; परंतु किसी एक को यह निरूपित करने का अधिकार नहीं है कि कोई अन्य क्या करे, यदि वह स्वयं भी उसी कार्य को करने को उद्यत नहीं होता। वास्तव में यही अधिकार, जो राजनीतिक निकाय को जीवित और क्रियाशील रखने के लिये अनिवार्य है, सार्वभौमिक सत्ता, शासन को संस्थापित करके, शासनाधिकारी को प्रदान कर देती है।

कइयों ने यह मिथ्या तर्क किया है कि उपर्युक्त संस्थापन का विलेख लोगों और राजकों के बीच, जिन्हें उन्होंने अपने ऊपर स्थापित कर लिया है, एक पाषण रूप है, और यह कि इस पाषण द्वारा दोनों पक्षों में यह अभिसम्विद किया जाता है कि किन शर्तों के अंतर्गत एक पक्ष अधिशासन करने को और दूसरा पक्ष अनुज्ञापालन करने को बाध्य होगा। मुझे विश्वास है कि यह सर्वमान्य होगा कि पाषण करने की यह एक अद्भत रीति है। देखना चाहिये कि क्या उपर्युक्त स्थिति तर्कसंगत भी है।

प्रथमतः, वरिष्ट प्रभुत्व जैसे अनन्यक्रामित नहीं हो सकता वैसे ही सँपरिवर्तित भी नहीं हो सकता; इसे सीमाबद्ध करने का अर्थ इसे विनष्ट करना होता है। यह कल्पना कि सार्वभौमिक सत्ता किसी अन्य वरिष्ट को मान्य करे, हास्यास्पद और परस्पर-विरोधी होती है; किसी स्वामी की आज्ञानुसरण के लिये अपने आपको बद्ध करने में यह कल्पित होता है कि इसने पूर्ण स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त कर लिया है।

इसके अतिरिक्त, यह स्पष्ट है कि लोगों का किसी विशिष्ट व्यक्ति के साथ पाषण करना एक विशिष्ट क्रिया होगी जिससे यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त पाषण न विधान हो सकेगा और न सार्वभौमिक सत्ता की क्रिया, और परिणामस्वरूप यह अवैधानिक हो जायगा।

अपरंच हम देखते हैं कि पाषण करनेवाले पक्ष केवल प्राकृतिक विधान के अंतर्गत ही कार्यशील हो सकेंगे और अपने अन्योन्य अभियुक्तियों के पालन के हेतु क्षेमरहित हो जाएँगे; यह धारणा सभ्य समाज के सर्वथा प्रतिकूल है। जो व्यक्ति शक्ति को धारण करता है वही सदा उसे कार्यान्वित करने की क्षमता रखने से तो गोया हम मनुष्य की उस क्रिया को पाषण का नाम दे रहे हैं जो वह किसी अन्य को निम्न कहने में करता है, "मैं तुम्हें अपनी समस्त सम्पत्ति देता हूँ और शर्त यह है कि तुम मुझे जो चाहो वापिस कर देना।"

राज्य में केवल एक पाषण होता है और वह साहचर्य का पाषण; यही किसी अन्य पाषण को अपवर्जित कर देता है। किसी अन्य सार्वभौमिक पाषण की कल्पना ही नहीं की जा सकती जो इस मूल पाषण का अतिक्रमण रूप न होगी

परिच्छेद १७

शासन का संस्थापन

तो जिस क्रिया द्वारा शासन संस्थापित होता है उसे किस सम्बोधना के अन्तर्गत कल्पित करना चाहिये ? मैं आरंभ में ही कह देना चाहता हूँ कि यह क्रिया मिश्रित है, जिसमें दो अन्य क्रियाएँ संयुक्त होती हैं, अर्थात् विधान का प्रतिपादन तथा विधान का निष्पादन।

प्रथम द्वारा सार्वभौमिक सत्ता यह निर्धारित करती है कि शासकीय निकाय किस रूप में स्थापित किया जाय, स्पष्टतः यह एक वैधानिक क्रिया होती है।

द्वितीय द्वारा, जनसमूह राजकों को मनोनीत करता है जिनमें प्रस्थापित शासन न्यसित होनेवाला है । उपर्युक्त मनोनयन एक विशिष्ट क्रिया होने के कारण कोई द्वितीय विधान नहीं होता, परन्तु प्रथम विधान का केवल परिणामस्वरूप, और शासन का एक कार्य, होता है।

कठिनाई यह समझने में आती है कि शासकीय निकाय के स्थापित होने के पहिले ही शासन का कार्य किस प्रकार सम्पादित हो सकता है, और लोग, जो केवल सार्वभौमिक सत्ता अथवा प्रजा ही होते हैं, किसी विशेष परिस्थिति में शासनाधिकारी अथवा दण्डाधिकारी कैसे बन सकते हैं।

परन्तु इस स्थिति में राजनीतिक निकाय का एक ऐसा आश्चर्यजनक गुण प्रकट होता है जिसके द्वारा स्पष्टतः परस्पर-विरोधी कृत्यों का समाधान हो जाता है । क्योंकि उपर्युक्त स्थिति सार्वभौमिक सत्ता के सहसा जनतंत्र में इस प्रकार परिवर्तित होने से उत्पन्न होती है कि बिना किसी संवेद्य परिस्थितिभेद के, और केवल समस्त से समस्त के नवीन सम्बन्ध द्वारा, नागरिक दण्डाधिकारी बनकर सर्वसाधारण कार्यों से विशिष्ट कार्यों के तथा विधान से निष्पादन के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं।

सम्बन्ध का उपर्युक्त परिवर्तन केवल परिकल्पना की सूक्ष्मता नहीं है जिसका व्यवहार में उदाहरण न मिलता हो; यह अंग्रेजी पार्लिमेंट में प्रतिदिन घटित होती है, जहाँ अवर सदन समय समय पर कार्य को अधिक सुचारु रीति से करने हेतु महा समिति में विघटित हो जाता है और एक क्षण पहिलेवाले सार्वभौम सम्मेलन के बजाय एक साधारण आयोग बन जाता है। इस प्रकार यह अपने आपको ही, लोकसभा के रूप में, तनन्तर महा समिति में किये गये निर्णयों का प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है, और नये सिरे से उन्हीं निर्णयों पर जो इसने एक रूप में निर्मित किये थे अब अन्य रूप में विचार करता है।

जनतंत्रात्मक शासन का यही विशिष्ट लाभ है कि यह सर्वसाधारण प्रेरणा के एक साधारण कृत्य द्वारा संस्थापित किया जा सकता है। तनन्तर अस्थायी शासन, यदि यही शासकीय रूप स्वीकृत हो, प्रवृत्त रहता है, अथवा सार्वभौमिक सत्ता के नाम पर विधान द्वारा संपादित शासन स्थापित कर देता है, और इस प्रकार सब कुछ नियमानुसार निष्पादित हो जाता है। किसी अन्य न्याय-संगत रीति से अद्यपर्यन्त स्थापित नियमों का उल्लंघन किये बिना शासन को संस्थापित करना असम्भव है।

परिच्छेद १८

शासन के बलाधिकार के निवारण के साधन

उपर्युक्त व्याख्याओं से, परिच्छेद १६ की पुष्टि में, यह सिद्ध है कि जिस क्रिया द्वारा शासन संस्थापित होता है वह पापण रूप न होकर केवल एक विधान है, कि अधिशासी शक्ति से निक्षिप्त व्यक्ति राष्ट्र के स्वामी न होकर केवल अधिकारी गण हैं, कि लोग उन्हें नियुक्त कर सकते हैं और स्वेच्छा से पदच्युत कर सकते हैं, कि उनके लिये पापण करने का कोई प्रश्न नहीं होता केवल अनुसरण का होता है, और कि जो कार्य उन पर राज्य द्वारा आरोपित किये जाते हैं उनको कार्यान्वित करते हुए वे केवल अपने नागरिक कर्तव्यों का पालन करते हैं, शर्तों के विवेचन करने का उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता।

इसलिये स्पष्ट है कि जब लोग किसी पैतृक शासन का संस्थापन करते हैं, चाहे वह किसी एक कुटुम्ब में राजतंत्रात्मक हो, अथवा नागरिकों के किसी एक वर्ग में शिष्ट जनतंत्रात्मक हो, वे किसी बंध में प्रविष्ट नहीं होते, बल्कि प्रशासन को केवल एक अस्थायी रूप देते हैं जिसका वे जब चाहें विभिन्नतया नियमन कर सकते हैं।

यह सत्य है कि उपर्युक्त परिवर्तन सदा भयावह होते हैं और संस्थापित शासन को उन परिस्थितियों के अतिरिक्त जब वह सार्वजनिक हित के असंगत हो जाय, कभी स्पर्श नहीं करना चाहिये; परंतु यह सावधानी केवल नीति का नियम है, अधिकार का नियम नहीं, और राज्य सामाजिक प्रभुत्व को अपने मुख्य मनुष्यों के हस्त में और उसी प्रकार सैनिक प्रभुत्व को सेनाधिकारियों के हस्त में छोड़ने को बाध्य नहीं होता।

अपरंच, यह सत्य है कि उपर्युक्त दशा में उन सब विधियों का जो एक नियमित और न्यायसंगत क्रिया को राज्यद्रोही कोलाहल से और समस्त राष्ट्र की प्रेरणा को किसी एक पक्ष की चिल्लाहट से प्रभिन्न करने के लिये आवश्यक हैं, अत्यन्त सावधानी से अवलोकन किया जाना चाहिये। विशेषकर इस दशा में घृणित प्रकरणों को केवल उतनी

ही मान्यता दी जानी चाहिये जितनी दृढ़ न्याय के अंतर्गत अस्वीकार नहीं की जा सकती, चाहे इस दायित्व से भी शासनाधिकारी लोगों के विरुद्ध अपनी शक्ति को परिरक्षित करने में बड़ा बल प्राप्त करता है, क्योंकि लोग यह नहीं कह पाते कि शासनाधिकारी ने उनकी शक्ति पर बलाधिकार कर लिया है। केवल अपने ही अधिकारों को कार्यान्वित करने का आभास करते हुए वह सुगमतापूर्वक उन्हें विस्तृत कर सकता है और सार्वभौमिक शक्ति को संस्थापित करने के बहाने से परिषदों की सुव्यवस्था पुनः स्थापित करने के हेतु आमंत्रित अधिवेशन अवरुद्ध कर सकता है; इस तरह शासनाधिकारी इस मौन का जिसे यह भग्न होने नहीं देता, और उन अनियमितताओं का जिनको घटित होने का यह स्वयं कारण होता है, लाभ उठा लेता है; जो भय के कारण चुप हो जाते हैं उनका अनुमोदन अपने पक्ष में प्राप्त कर लेता है और जो बोलने का साहस करते हैं उन्हें दंडित कर देता है। इसी प्रकार द्वादश वर्ग ने, जो सर्वप्रथम एक वर्ष के लिये निर्वाचित हुए थे और फिर अगले वर्ष के लिये पदस्थ रहे थे, सभा (कमिटियाँ) को सम्मिलित न होने देकर सदा के लिये अपनी शक्ति को प्रतिधारण करने की चेष्टा की, और इसी सुगम रीति से विश्व के समस्त शासन एक बार सार्वजनिक बल से युक्त होने के अनंतर सार्वभौम सत्ता पर कभी न कभी बलाधिकार कर लेते हैं।

जिन नियतकालिक परिपदों का मैंने पहिले उल्लेख किया है वे इस दोप का निवारण अथवा स्थगन करने के लिये बहुत उपयुक्त हैं, विशेपतया क्योंकि उनके अधिवेशन के लिये किसी यथारीति आमंत्रण की आवश्यकता नहीं होती; इसलिये शासनाधिकारी अपने आपको प्रत्यक्ष रूप में विधानों का उल्लंघनकर्ता और राज्य का शत्रु घोपित किये बिना उनमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

उपर्युक्त परिषदों का उद्‌घाटन, जिनका प्रयोजन सामाजिक बंध को परिरक्षित करना होता है, सदा दो प्रस्तावों के साथ होना चाहिये जिन्हें किसी को दमन करने का साहस नहीं होना चाहिये और जो पृथक्-पृथक् मतों से पारित होने चाहिये।

प्रथम "क्या सार्वभौमिक सत्ता शासन के वर्तमान रूप को संधृत रखना चाहती है?"

द्वितीय "क्या लोग प्रशासन को उन्हीं के पास रखना चाहते हैं जिनमें यह अब नियसित है?"

इस संबंध में मेरी यह पूर्वधारणा है, और मेरी मान्यता है कि मैं इसे प्रमाणित कर चुका हूँ, कि राज्य में कोई ऐसा आधारभूत विधान नहीं होता, न ही सामाजिक पापण ऐसा विधान होता है जिसे निरसित न किया जा सके; क्योंकि यदि सब नाग-

रिक गम्भीर सम्विदा द्वारा इस पाषण को भग्न करने के हेतु सम्मिलित हों तो कोई इसमें शंका नहीं कर सकता कि यह सर्वथा न्यायपूर्वक भग्न हो जायगा। ग्रोशस की तो यह भी कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्य, जिस राज्य का वह सदस्य हो, उसे त्याग सकता है और देश को छोड़कर अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता और सम्पत्ति को पुनः प्राप्त कर सकता है।[१] जो प्रत्येक नागरिक पृथक् रूप से करने का अधिकारी है उसे सब नागरिक सम्मिलित रूप में करने को अशक्त हैं, यह धारणा हास्यास्पद होगी।

१ यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिये कि किसी व्यक्ति को अपना कर्तव्य अपवंचित करने के हेतु अथवा ऐसे अवसर पर जब देश को उसकी आवश्यकता है सेवा से बचने के हेतु देश छोड़ने का अधिकार नहीं है। उपर्युक्त दशा में पलायन अपराधिक और दंडच होगा। यह निवृत्ति न होकर संपरित्याग की परिभाषा में आयगा।

पुस्तक ४

परिच्छेद १

सर्वसाधारण प्रेरणा अविनाशी है

जब तक मनुष्यों की कोई संख्या सम्मिलित रूप में अपने आपको एक निकाय मात्र समझती है, तब तक उसकी एक ही प्रेरणा होती है जिसका संबंध सामान्य परिरक्षण और साधारण कल्याण से होता है। उस दशा में राज्य के तमाम स्कन्द ओजस्वी और सरल होते हैं, राज्य के सिद्धांत स्पष्ट और शुभ्र होते हैं, कोई सम्भ्रमित और परस्पर विरोधी हित नहीं होते, हर जगह सामान्य लाभ प्रत्यक्षत: स्पष्ट होता है, और इसका निरूपण करने के लिये केवल व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। शांति, एकता और सामान्यता राजनीतिक विशेषणों के शत्रु होते हैं। सत्य और सरल स्वभावी मनुष्य अपनी सरलता के कारण मुश्किल से वंचित होते हैं; प्रलोभन और सुसंस्कृत छल उन्हें प्रभावित नहीं करते, वे वंचित होने के लिये भी पर्याप्त मात्रा में चालाक नहीं होते। जब विश्व के प्रसन्नतम राष्ट्रों में हम कृषकों के समूहों को किसी बड़े वृक्ष के नीचे बैठकर राज्य के कार्यों का विनिमयन करते और सदा बुद्धिमानी से कार्य करते हुए देखते हैं, तो क्या हम अन्य राष्ट्रों के, जो कला और रहस्य के आधार पर प्रसिद्ध अथवा दुर्भागी बनते हैं, परिष्कारों की अवहेलना किये बिना रह सकते हैं ?

उपर्युक्त रीति से प्रशासित राज्य को विधानों की बहुत कम आवश्यकता होती है, और जिस मात्रा में नये विधानों का उद्घोषण आवश्यक होता है उसकी आवश्यकता को वे सब लोग एक मत से मान्य करते हैं। विधान को प्रस्तावित करनेवाला मनुष्य सर्वसाधारण की पूर्व अनुभूति को व्यक्तमात्र करता है, और जिस प्रस्ताव को प्रत्येक ने मान्य करने का संकल्प पहले ही कर लिया हो उसे विधान के रूप में पारित करने को न किसी के पक्ष-समर्थन और न वक्तृत्व की आवश्यकता होती है, क्योंकि प्रस्तावक को विश्वास होता है कि शेष अन्य भी स्वयं वही करेंगे जो वह कर रहा है।

जिससे तार्किक लोग वंचित हैं वह यह है कि दुस्संगठित राज्यों को आद्य से ही अवलोकित करते हुए वे इन राज्यों में किसी सुनिश्चित रीति को संधृत करना असम्भव समझने लगते हैं। पेरिस अथवा लंदन के लोगों को एक चतुर कपटी, एक उत्तेजक वक्ता क्या मूर्खताएँ सम्पन्न करने को उकसा सकता है, उनका विचार करके वे हँसते हैं। वे यह नहीं जानते कि बर्न के लोगों द्वारा क्रौमवैल को कठिन परिश्रम करने को दिया जाता और जेनेवा के लोगों द्वारा ड्यूक आफ़ व्यूफ़ोर्ट को कोड़े लगाये जाते।

परंतु जब सामाजिक बंध ढीला होने लगता है और राज्य दुर्बल हो जाता है, जब वैयक्तिक हित प्रबल होने लगते हैं और क्षुद्र संस्थाएँ महान् संस्था पर प्रभाव डालने लगती हैं तो सामान्य हित को आघात लगता है और इसके विपक्षी उत्पन्न हो जाते हैं। मतदान में एकमतता का प्रभुत्व नहीं रहता, सर्वसाधारण प्रेरणा सब लोगों की प्रेरणा नहीं रहती, विपक्ष और संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं, और श्रेष्ठतम प्रस्ताव भी निर्विरोध स्वीकृत नहीं होता।

अंत में जब विनाश के समीपस्थ राज्य निरर्थक और मायावी रूप में ही निर्वाहित रहता है, जब सामाजिक बंध प्रत्येक हृदय में भग्न हो जाता है, जब क्षुद्रतम हित जन-कल्याण के पवित्र नाम के अंतर्गत निर्लज्जता से अपना आश्रय लेता है, तो सर्व-साधारण प्रेरणा मूक हो जाती है। गुप्त प्रेरणाओं से उत्तेजित-हुए सब लोग राज्य रचना के पूर्वकाल की भाँति नागरिक के रूप में अपना मत व्यक्त नहीं करते; और विधानों के रूप में वे छल से ऐसे अन्यायपूर्ण प्रादेशों को पारित करते हैं जिनका उद्देश्य केवल वैयक्तिक हितों की पूर्ति होता है।

क्या इस से यह सिद्ध होता है कि सर्वसाधारण प्रेरणा विनष्ट हो गई है अथवा भ्रष्ट हो गई है? कदापि नहीं। सर्वसाधारण प्रेरणा तो सदा स्थिर, अपरिवर्ती और पवित्र रहती है; परंतु उपर्युक्त स्थिति में अन्य प्रेरणाओं द्वारा इसे केवल अधरिक कर लिया गया है। अपने हित को सामान्य हित से पृथक् करता हुआ प्रत्येक मनुष्य प्रत्यक्षतः देखता है कि वह इसे सम्पूर्णतया पृथक् नहीं कर सकता, परंतु राज्य की क्षति होने के परिणामस्वरूप उसकी निजी क्षति का भाग उस अपवर्जी लाभ की अपेक्षा जिसे वह स्वतः प्राप्त करने का इच्छुक होता है, बहुत तुच्छ लगता है। यदि इस उपर्युक्त विशिष्ट लाभ को पृथक् कर दिया जाय, तो वह भी अपने निजी लाभ के हेतु सार्वजनिक कल्याण को दूसरों की तरह ही पूरी दृढ़ता से चाहता है। अपने मत को धन के लिये विक्रय करते हुए भी वह अपने अंतःकरण से सर्वसाधारण प्रेरणा को परिसमाप्त नहीं करता, बल्कि इससे बच निकलता है। जिस दोष का वह भागी होता है, वह है,

प्रश्न के रूप को बदलना और जो उससे पूछा गया उससे अलग ही कुछ उत्तर देना; उदाहरणार्थ अपने मत से यह कहने की अपेक्षा कि "यह राज्य के लिये लाभप्रद है" वह यह कहता है कि "इस प्रस्ताव का पारित होना किसी विशेष मनुष्य अथवा किसी विशेष पक्ष को लाभप्रद होगा।" इसलिये परिषदों की सार्वजनिक व्यवस्था के नियम सर्वसाधारण प्रेरणा को परिरक्षित करने के लिये इतने सक्षम नहीं होते जितने इस बात के लिये कि परिषद् से सदा विमर्श किया जायगा और परिषद् सदा निर्णय करेगी।

इस स्थान पर मैं सार्वभौमिक सत्ता के प्रत्येक कार्य के संबंध में नागरिकों के सरल अधिकारों का विवेचन करना चाहूँगा; उदाहरणार्थ मत प्रकट करने का अधिकार जो नागरिक से कोई भी छीन नहीं सकता; और बोलने, प्रस्ताव करने, विभाजन करने और विमर्श करने के अधिकार जो शासन केवल अपने सदस्यों के लिये स्थापित रखने को सदा सतर्क रहता है; परंतु इस महत्त्वपूर्ण विषय के लिये एक अलग पुस्तक की आवश्यकता होगी, और वर्तमान पुस्तक में मैं सब कुछ नहीं कह सकता हूँ।

परिच्छेद २

मतदान

हमने गत परिच्छेद में देखा है कि जिस रीति से सार्वजनिक कार्य होता है वह पर्याप्त विश्वसनीय मात्रा में राजनीतिक निकाय के चरित्र तथा स्वास्थ्य की द्योतक है। परिषदों में जितना अधिक संध्वनि का राज्य होता है, अर्थात् जितना अधिक मतदान एक मत के समीप पहुँचता है, उतना ही अधिक सर्वसाधारण प्रेरणा अविभाज्री होती है; परंतु दीर्घ विवाद, मतभेद और कोलाहल उद्घोषित करते हैं कि वैयक्तिक हितों का बोलबाला है और राज्य क्षय की ओर प्रवृत्त है।

जब दो अथवा अधिक वर्ग राज्य के संविधान में प्रविष्ट हो जाते हैं, उदाहरणार्थ रोम में जहाँ शिष्टवर्ग और सामान्य वर्ग के संघर्ष के फलस्वरूप परिषद की कार्यवाही संघराज्य के उत्कृष्टतम दिनों में भी बहुधा विक्षोभित होती थी, उपर्युक्त तथ्य कम स्पष्टता से प्रत्यक्ष होता है; परंतु यह अपवाद भी वास्तविक होने की अपेक्षा अधिक आभासी ही है, क्योंकि उस समय राजनीतिक निकाय के एक स्वाभाविक दोष के अंतर्गत, वास्तव में एक ही राज्य में दो राज्य स्थापित होते हैं। दोनों राज्यों को सम्मिलित रूप में अवलोकित करने से जो सत्य अवलोकित नहीं होता, वह प्रत्येक को पृथक् रूप में दृष्टिगोचर करने से स्पष्ट दिखाई देता है। वास्तव में सबसे तूफानी समय में भी जब शिष्ट सभा लोगों के कार्यों में अंतराय नहीं डालती थी, लोगों का जनमत बहुधा विधानों को शांतिपूर्वक और बहुमत से पारित किया करता था : नागरिकों का समान हित होने के कारण लोगों की एक ही प्रेरणा होती है।

चक्र के दूसरे सीमांत पर एकमतता की पुनः प्राप्ति होती है। वह तब होती है जब नागरिक दासत्व में गिरने के अनंतर न स्वतन्त्रता और न किसी प्रेरणा के धारक होते हैं। उस दशा में भय और चापलूसी मतों को जयध्वनि में परिवर्तित कर देते हैं; विमर्श करने के बदले मनुष्य केवल आराधना अथवा निंदा करते हैं। सम्राटों के समय में

शिष्ट सभा की यही कलंकित अभिमत रीति थी। कई बार इसका अनुसरण हास्यास्पद सावधानी के साथ किया जाता था। टैसीटस ने लिखा है कि ओथो के अधीन जब शिष्ट सभासदों ने विटैलियस पर शापों की वर्षा की तो साथ ही एक भयानक कोलाहल भी मचाया ताकि यदि वह स्वामी पद को प्राप्त कर ले तो वह यह न जान सके कि प्रत्येक व्यक्ति ने क्या कहा था।

उपर्युक्त विभिन्न विचारों के आधार पर ही उन सिद्धांतों का उपकलन होता है जिनके अंतर्गत, सर्वसाधारण प्रेरणा के न्यूनाधिक निश्चित हो सकने और राज्य के न्यूनाधिक नष्ट धर्म होने के अनुसार, मतों की गणना और अभिप्रायों की तुलना नियमित हो सके।

केवल एक ही ऐसा विधान है जो स्वभावतः सर्वसम्मत स्वीकृति की अपेक्षा करता है। वह है सामाजिक बंध, क्योंकि जानपदीय साहचर्य विश्व में सर्वतोधिक स्वेच्छाप्रेरित क्रिया होती है। प्रत्येक मनुष्य जन्मतः स्वतंत्र और निज का स्वामी होने के कारण, कोई भी, किसी भी छल के अंतर्गत, बिना उसकी स्वीकृति के, उसे दास नहीं बना सकता। इस निर्णय का कि दास का पुत्र जन्मतः दास होता है, अर्थ यह हो जायगा कि वह जन्मतः मनुष्य ही नहीं होता।

इसलिये यदि सामाजिक बंध के समय कोई इसके विपक्षी हों तो उनके विरोध के कारण यह बंध विधिहीन नहीं हो जाता, परंतु उस कारण केवल वे इसमें सम्मिलित होने से वंचित हो जाते हैं; वे नागरिकों के मध्य विदेशी-सम हो जाते हैं। जब राज्य स्थापित होता है तो स्वीकृति निवास में निहित होती है; देश में रहने का अर्थ यह होता है कि सार्वभौमिक सत्ता की अधीनता स्वीकार कर ली है।[1]

इस आद्य पापण के अतिरिक्त, बहुसंख्या का मत सदा अन्य सबको बाध्य करता है; यह नियम स्वतः पाषण का ही परिणामस्वरूप है। परंतु यह पूछा जायगा कि कोई मनुष्य स्वतंत्र होते हुए निज के अतिरिक्त दूसरी प्रेरणाओं के अधीन होने को बाध्य कैसे किया जा सकता है। विपक्षी लोग साथ ही स्वतंत्र और जिन विधानों को उन्होंने स्वीकृत न किया हो, उनके अधीन कैसे हो सकते हैं?

१ उपर्युक्त का संबंध सदा स्वतंत्र राज्य से समझना चाहिये; क्योंकि कई बार कुटुम्ब, सम्पत्ति, शरण का अभाव, आवश्यकता, अथवा हिंसा किसी निवासी को उसकी स्वेच्छा के विरुद्ध भी देश में अवरुद्ध रख सकते हैं; और उस दशा में केवल उसका निवास पाषण अथवा उसके उल्लंघन के प्रति उसकी स्वीकृति का द्योतक नहीं होता।

मेरा उत्तर है कि यह प्रश्न अनुचित रूप से प्रस्तुत किया गया है। नागरिक सब विधानों को स्वीकृत करता है, उनको भी जो उसकी इच्छा के प्रतिकूल पारित हैं और उनको भी जो उसके द्वारा उल्लंघित किये जाने की दशा में उसे दंडित करते हैं। राज्य के सब सदस्यों की अपरिवर्तनीय प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा होती है; उसी के द्वारा वे नागरिक और स्वतंत्र होते हैं।[1] जब जनपदीय परिषद् में कोई विधान प्रस्तावित किया जाता है तो लोगों से यह नहीं पूछा जाता कि वे उस प्रस्थापन का अनुमोदन करते हैं अथवा उसे अस्वीकार करते हैं, परंतु यह पूछा जाता है कि वह प्रस्थापन सर्वसाधारण प्रेरणा के, जो उनकी निजी प्रेरणा का रूप है, संगत है अथवा नहीं; प्रत्येक अपना मत देकर इस संबंध में अपना अभिमत व्यक्त करता है, और मतों की गणना से सर्वसाधारण प्रेरणा की घोषणा प्राप्त होती है। इसलिये जब कभी अपने से विपक्षी अभिप्राय अविभावी होता है, तो वह केवल यही सिद्ध करता है कि मैं गलती पर था और जिसे मैं सर्वसाधारण प्रेरणा समझता था वह वास्तव में सर्वसाधारण प्रेरणा नहीं थी। यदि मेरा वैयक्तिक अभिप्राय अविभावी हो जाता तो मैं अपनी प्रेरणा के विपरीत कार्य करने का दोषी होता, और उस दशा में वास्तविक अर्थ में स्वतंत्र नहीं हो सकता था।

यह सत्य है कि इससे यह अनुमानित होगा कि सर्वसाधारण प्रेरणा के सब चिह्न बहुसंख्या में वेष्टित हैं; जब ऐसा होना बन्द हो जायगा तो, चाहे हम किसी पक्ष में रहें, हमें स्वतंत्रता प्राप्त न होगी।

पूर्व में यह प्रदर्शित करते हुए कि सार्वजनिक संकल्पों में विशिष्ट प्रेरणाएँ सर्वसाधारण प्रेरणा के स्थान पर कैसे प्रतिस्थापित हो जाती हैं, मैंने इस दुष्प्रयोग को रोकने के पर्याप्त व्यवहारगम्य साधन प्रदर्शित किये हैं; इनकी चर्चा मैं बाद में पुनः करूँगा। सर्वसाधारण प्रेरणा को घोषित करने के लिये मतों की अनुपाती संख्या के संबंध में मैंने वे सिद्धांत निरूपित कर दिये हैं जिनके अनुसार इसको निश्चित किया जा सकता है। केवल एक मत का अन्तर सर्वसम्मति को नष्ट कर देता है; परंतु सर्वसम्मति और

१ जेनेवा में कारागृह के द्वार पर और नाविक दासों की हथकड़ियों पर शब्द "स्वतंत्रता" लिखा होता है। इस उक्ति का प्रयोग उचित और न्यायसंगत है। वास्तव में केवल सब प्रकार के कुचेष्टाकारी ही नागरिक को स्वतंत्रता की प्राप्ति से वंचित रखते हैं; जिस देश में उपर्युक्त सब व्यक्ति नाविक दासत्व में डाल दिये गये हों उसी देश में संपूर्णतम स्वतंत्रता का उपभोग हो सकेगा।

समान सम्मति के बीच अनेक असमान भाग होते हैं जिन प्रत्येक पर राजनीतिक निकाय की स्थिति और आवश्यकताओं के अनुसार इस संख्या का स्थापन किया जा सकता है ।

उपर्युक्त अनुपातों को नियमित करन में दो साधारण नियम सहायक हो सकते हैं; प्रथम यह कि जितना अधिक महत्त्व का अथवा भारी संकल्प हो उतना ही अधिक अविभावी अभिप्राय को सर्वसम्मति के समीप होना चाहिये; दूसरे यह कि जितना अधिक विवेचनाधीन कार्य में शीघ्रता की आवश्यकता हो उतना ही अधिक अभिप्रायों के भाग में निर्धारित अंतर को सीमित करना चाहिये; जिन संकल्पों में त्वरित निर्णय की आवश्यकता हो उनमें एकमात्र मत की बहुसंख्या पर्याप्त होनी चाहिये। इन नियमों में, प्रथम नियम विधानों के निमित्त अधिक उचित प्रतीत होता है और दूसरा कार्यों के निमित्त । परंतु कुछ भी हो, इन दोनों नियमों के सम्मिश्रण द्वारा ही वे उत्तमतम अनुपात संस्थापित किये जा सकते हैं जिनके अंतर्गत बहुमत का निर्णय अविभावी होना उचित होगा ।

परिच्छेद ३

निर्वाचन

शासनाधिकारी और दंडाधिकारियों के निर्वाचन के संबंध में जो, जैसा मैं पहिले भी कह चुका हूँ, जटिल क्रियाएँ हैं, दो कार्य-प्रणालियाँ प्रयुक्त होती हैं (अर्थात् चुनाव और भाग्यपत्रक)। दोनों प्रणालियाँ भिन्न भिन्न संघ राज्यों में प्रयुक्त की गई हैं, और अब भी वेनिस के ड्यूक के निर्वाचन में दोनों प्रणालियों का संजटिल मिश्रण दृष्टिगोचर होता है।

मौंटैस्क्यू का कथन है कि "भाग्यपत्रक द्वारा निर्वाचन जनतंत्र की प्रकृति के अनुकूल है।" मैं यह मानता हूँ, परंतु किस प्रकार ?——मौंटैस्क्यू आगे कहता है कि "भाग्यपत्रक निर्वाचन एक ऐसी रीति है जिससे किसी की मानहानि नहीं होती, प्रत्येक नागरिक को अपने देश की सेवा करने की युक्तियुक्त आशा रहती है।" परंतु वास्तव में ये कारण नहीं हैं।

यदि हम इसे अपने ध्यान में रखें कि प्रमुखों का निर्वाचन शासन का कार्य है सार्वभौमिक सत्ता का नहीं, तो हम देखेंगे कि भाग्यपत्रक द्वारा निर्वाचन की पद्धति जनतंत्र की प्रकृति के अधिक अनुकूल क्यों है। जनतंत्र में प्रशासन उतना ही अधिक अच्छा होता है जितने कम इसके कार्य गुणित किये जाते हैं।

प्रत्येक वास्तविक जनतंत्र में दंडाधिकार कोई उपहार नहीं होता, परंतु एक दुर्वह प्रभार होता है, और उसे अन्यों की अपेक्षा किसी एक व्यक्ति पर आरोपित करना न्याय की दृष्टि से उचित नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति के नाम भाग्यपत्रक निकलता है उसपर इस भार का आरोपण केवल विधान द्वारा ही कल्पित हो सकता है क्योंकि उस दशा में सबके लिये समान स्थिति होने के कारण, और चुनाव मानुषिक इच्छा पर आधारित न होने के कारण, किसी ऐसी विशिष्ट प्रयुक्ति का अवलम्बन नहीं होता जिससे विधान की सार्वत्रिकता बदल जाय।

शिष्ट-जनतंत्र में शासनाधिकारी ही शासनाधिकारी को चुनता है; शासन अपने द्वारा ही संधृत होता है, और इसलिये मतदान प्रणाली प्रचलित होना उचित है।

वेनिस के ड्यूक के निर्वाचन का उदाहरण इस अन्तर को विनष्ट करने के बजाय पुष्टिकृत करता है; यह मिश्र प्रणाली मिश्रित शासन के लिये उपयुक्त है, क्योंकि वेनिस के शासन को सत्य, शिष्ट-जनतंत्र मानना ही गलती है। जब लोग शासन में भाग ही नहीं लेते तो शिष्टजन स्वयमेव जनसमूह होते हैं। दीन बर्नाबाटों के समूह दंडाधिकारी पद के समीप नहीं पहुँचते और अपनी श्रेष्ठता के चिह्न स्वरूप केवल "श्रेष्ठ" की शून्य उपाधि और महान् सभा में उपस्थित होने का अधिकार ही धारण करते हैं। यह महान् सभा हमारी जेनेवा की साधारण सभा के समान संख्याधिक होने के कारण, इसके प्रख्यात सदस्य हमारे सरल नागरिकों की अपेक्षा कोई अधिक विशेषाधिकार प्राप्त नहीं करते। यह निश्चित है कि दोनों संघराज्यों की नितांत असमता को पृथक् करने के अनन्तर, जेनेवा का नागरिक वेनिस के शिष्टजनों के वर्ग के पूर्णतया अनुरूप होता है; हमारे देशज और निवासी वेनिस के नागरिक और लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं; हमारे कृषक प्रधान द्वीप की प्रजा का प्रतिनिधित्व करते हैं; संक्षेप में इस संघराज्य को, इसके विस्तार के अतिरिक्त, हम जिस रूप में भी अवलोकित करें, इसका शासन हमारे शासन से अधिक शिष्ट-जनतंत्रात्मक नहीं है। समस्त विभिन्नता यह है कि कोई आजीवन प्रमुख न होने के कारण हमें भाग्यपत्रक की उतनी आवश्यकता नहीं है।

वास्तविक जनतंत्र में भाग्यपत्रक द्वारा निर्वाचन बहुत कम दोषयुक्त होगा; क्योंकि सब लोग चरित्र तथा योग्यता एवं भाव तथा भाग्य में समान होने के कारण, चुनावला धारणतया अपक्षपाती होगा। परंतु मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि वास्तविक जनतंत्र होता ही नहीं।

जब चुनाव और भाग्यपत्रक सम्मिश्रित किये जायँ, तो चुनाव को ऐसे पदों की पूर्ति के लिये प्रयुक्त करना चाहिये जिनके लिये विशेष योग्यता वांछनीय हो, उदाहरणार्थ सैनिक नियुक्तियाँ; भाग्यपत्रक उन पदों की पूर्ति के लिये उपयुक्त होता है जहाँ विवेक, बुद्धि, न्याय तथा पवित्रता पर्याप्त होती हो, उदाहरणार्थ नैयायिक पद; क्योंकि सुसंगठित राज्य में उपर्युक्त गुण सब नागरिकों में समान होते हैं।

राजतंत्रात्मक शासन में भाग्यपत्रक तथा मतदान का कोई स्थान नहीं है। राजा साधिकार एकमेव शासनाधिकारी और दंडाधिकारी होने के कारण, उसके सहायकों

का चुनाव उस पर स्वतः निर्भर होता है। जब आवे दी सैम्पियर ने फ्रांस के बादशाह की सभा को गुणित करने और उसके सदस्यों को मतपत्र द्वारा निर्वाचित करने का सुझाव रखा, तो उसने यह नहीं देखा कि वास्तव में उसका सुझाव शासन के प्रकार को बदलने का था।

लोकपरिषद् में मतों के अभिलेख तथा गणना की रीति के संबंध में मुझे अभी कहना है; परंतु सम्भवतः रोम की नीति का इतिहास उन सब सिद्धान्तों को जिन्हें मैं प्रस्थापित करना चाहता हूँ अधिक स्पष्टता से प्रदर्शित करेगा। विवेकी पाठक के लिये यह अनुचित नहीं होगा कि वह थोड़ी सविस्तर रीति से इस बात को अवलोकित करे कि दो लाख मनुष्यों की सभा में सार्वजनिक और वैयक्तिक कार्य कैसे संपादित होते हैं।

परिच्छेद ४

रोम की समितियाँ

रोम के प्राचीन इतिहास का हमारे पास बहुत विश्वसनीय स्मारक नहीं है। यह भी बहुत सम्भाव्य है कि बहुत वस्तुएँ जो अनुक्रम से प्राप्त हुई हैं कल्पित कथा मात्र हों;[1] और साधारणत: उनकी संस्थाओं का इतिहास, जो राष्ट्र के इतिहास का सबसे शिक्षाप्रद भाग होता है, अत्यंत दोषयुक्त है। अनुभव हमें प्रतिदिन बताता है कि किन कारणों से साम्राज्यों की क्रांतियाँ उत्पन्न होती हैं; परंतु चूँकि राष्ट्र स्वयं निर्माण क्रम को पास कर चुके हैं, इसलिये इस बात का विश्लेषण करने के लिये कि वे कैसे निर्मित हुए थे, हमारे पास अनुमान के अतिरिक्त कोई और साधन नहीं है।

जो रूढ़ियाँ संस्थापित हैं उनसे कम से कम यह पता तो चलता है कि इन रूढ़ियों का कभी आरम्भ हुआ था। उक्त आरम्भ तक पहुँचनेवाली कथाओं में से जिन्हें प्राधिकारीतम लेखक मान्य करते हैं और जो दृढ़तम युक्तियों द्वारा पुष्ट होती हों, उन्हें अत्यंत निःशंक समझा जाना चाहिये। मैंने इस बात का अन्वेषण करने के लिये कि विश्व के स्वतंत्रतम और शक्तिशालीतम राष्ट्र ने अपनी वरिष्ट शक्ति का किस प्रकार प्रयोग किया, उपर्युक्त सिद्धांत का अनुसरण किया है।

रोम के स्थापित होने के अनंतर, व्युत्पादित गणराज्य, अर्थात् निर्माता की सेना, जिसमें अल्बेनिया, सेविनया और विदेश के लोग थे, तीन वर्गों में विभाजित थी और इस विभाजन के परिणामस्वरूप इसका नाम गणजाति (Tribe) पड़ गया था।

१ रोम का नाम, जिसे रोम्युलस से आकर्षित कहा जाता है, ग्रीक भाषा का है और इसका अर्थ दल है। न्यूमा का नाम भी ग्रीक भाषा का है और इसका अर्थ विधान होता है। कैसा आश्चर्यजनक संपात है कि इस नगर के दो सर्वप्रथम राजाओं के ये नाम हों जो प्रत्यक्ष रूप में उनके द्वारा किये गये कार्यों से इस प्रकार संबंधित हैं।

प्रत्येक "गणजाति" दस क्यूरिया में विभाजित थी, और प्रत्येक क्यूरिया डीक्यूरिया में। इनके प्रमुख (Curiones and decuriones) कहलाते थे।

इसके अतिरिक्त, एक शत घुड़सवारों का समुदाय जिसे सेन्चुरिया (Centuria) कहा जाता था, प्रत्येक "गणजाति" से निष्कर्षित होता था, जिससे स्पष्ट है कि ये विभाजन जो किसी नगरके लिये अनिवार्य नहीं हैं, आरम्भ में केवल सैनिक रूप थे। परंतु ऐसा लगता है कि महत्वाकांक्षा के कारण रोम के छोटे नगर ने आरंभ से ही एक ऐसी नीति को अंगीकार किया जो विश्व की राजधानी के लिये उचित थी।

इस प्राथमिक विभाजन के फलस्वरूप, जल्दी ही एक कठिनाई उपस्थित हुई। अल्बेनिया और सेबाइन की गणजातियाँ सदा समान स्थिति में रहीं परंतु विदेशियों को ट्राइब निरंतर अभिगमन के कारण लगातार अभिवृद्ध होती रही और जल्दी ही उन दोनों से अधिक संख्या में हो गयी। सर्वियस ने इस भयावह दुष्प्रयोग के निराकरण के हेतु विभाजन की रीति को बदल दिया; जातियों के अनुसार विभाजन को लुप्त करके उसके स्थान पर अन्य विभाजन प्रतिस्थापित कर दिया जिसका आधार नगर की प्रत्येक ट्राइब द्वारा वासित मंडल बनाये गये। तीन ट्राइब्स के स्थान पर उसने चार ट्राइब्स बना दीं, इनमें से प्रत्येक रोम की अलग अलग पहाड़ी पर रहती थी और उसी का नाम धारण करती थी। ऐसा करने से, न केवल वर्तमान असमानता का प्रतिकार हो गया, परंतु भविष्य में भी इसका अवरोध हो गया; और यह आगोपित करने के लिये कि विभाजन न केवल क्षेत्रों का अपितु मनुष्यों का भी रहे, उसने एक क्षेत्र के निवासियों को किसी अन्य क्षेत्र में जाने से अवरुद्ध कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप जातियों का सम्मिश्रण होना भी निवारित हो गया।

उसने प्राचीन अश्वसेना की तीन सेंच्युरी को द्विगुणित कर दिया, और तदनंतर १२ और सेंचुरी बढ़ा दीं, परंतु नाम पुराना ही रहने दिया; इस सरल और न्याय-संगत साधन से उसने अश्वारोहियों और अन्य लोगों में, इनके बड़बड़ाने का कारण उत्पादित किये बिना, भेद स्थापित कर दिया।

उपर्युक्त चार नगरीय ट्राइब्स में, सर्वियस ने १५ अन्य जोड़ दीं जिन्हें ग्राम्य ट्राइब्स कहा गया, क्योंकि वे ग्राम के निवासियों से निर्मित की गयी थीं उन्हें इतने ही उपमंडलोंमें विभाजित किया गया। तदनंतर इतनी ही अन्य नवीन ट्राइब्स बनायी गयीं, और अंत में रोम के लोगों का विभाजन ३५ ट्राइब्स में हो गया, जो संख्या गणराज्य के अंत तक स्थापित रही।

उपर्युक्त नगरीय और ग्राम्य ट्राइब्स के भेद के फलस्वरूप, एक उल्लेखनीय परिणाम दृष्टिगोचर हुआ; इस परिणाम का कोई अन्य उदाहरण नहीं मिलता और रोम में भी यह परिणाम अपनी रीतियों के परिरक्षण और अपने साम्राज्य की वृद्धि के कारण ही उत्पादित हुआ। कोई ऐसा अनुमान कर सकता है कि नगरीय ट्राइब्स ने समस्त शक्ति और प्रतिष्ठा पर विजयाधिकार कर लिया होगा, और वे ग्राम्य ट्राइब्स की उपेक्षा करने को उद्यत हुई होंगी; परंतु हुआ इससे बिल्कुल विपरीत। हम प्राचीन रोम निवासियों के ग्राम्य जीवन के प्रेम को जानते हैं। यह प्रेम उन्होंने अपने बुद्धिमान निर्माता से ही प्राप्त किया था, जिसने स्वतंत्रता के साथ ग्राम्य और सैनिक कार्यों को जोड़ा था, और नगरों में, ऐसा मानना चाहिये कि, कला, व्यापार, षड्यंत्र, धन और दासत्व को निर्वासित किया था।

इसलिये रोम का प्रत्येक प्रसिद्ध मनुष्य ग्राम का निवासी और भूमि का कृषक होने के कारण, संघराज्य के रक्षकों को ग्राम में ही खोजना यह रूढ़िगत हो गया था। योग्यतम शिष्टों द्वारा अनुसरित होने के कारण, उपर्युक्त स्थिति, प्रत्येक द्वारा आदरित हुई; ग्रामीणों का सरल और श्रमयुक्त जीवन रोम के नागरिकों के शिथिल और निरुद्योगी जीवन से सदा अधिमानित रहा, और अनेक लोग जो नगर में केवल हतभागी श्रमजीवी होते, ग्रामों में श्रमिक होकर सम्मानित नागरिक बन गये। वैरो का कथन है कि यह युक्ति रहित बात नहीं है कि हमारे मनस्वी पूर्वजनों ने ग्राम में ही उन परिश्रमी और बहादुर मनुष्यों के शिशुगृह को संस्थापित किया जिन्होंने उन्हें युद्ध में प्रतिरक्षित और शान्तकाल में पोषित किया। प्लिनी का तो स्पष्ट कथन है कि ग्रामीय ट्राइब्स का आदर तो उनके संघटक मनुष्यों के कारण ही हुआ; जिनको अयोग्य होने के कारण कलंकित करना इच्छित था उन्हें तिरस्कार के चिह्नरूप नगरीय ट्राइब्स में स्थानांतरित कर दिया गया। Sabine Appius Claudius के रोम में आकर वासित होने पर उसे सम्मान से लाद दिया गया, और एक ग्राम्य ट्राइब में भरती किया गया, जिसका बाद में उसके कुटुम्ब का ही नाम पड़ गया। अन्ततः, सब मुक्त पुरुषों को नगरीय ट्राइब्स में भरती किया जाता था, ग्राम्य में नहीं; और संघराज्य के सम्पूर्ण इतिहास में इन मुक्त पुरुषों द्वारा दंडाधिकार प्राप्त करने का एक भी उदाहरण नहीं मिलता, चाहे वे नागरिक हो गये थे।

उपर्युक्त सिद्धान्त बहुत श्रेष्ठ था; परंतु इसे इस सीमा तक ढकेला गया कि अंत में इसके फलस्वरूप शासन में परिवर्तन और निश्चय रूप से एक दोष उत्पन्न हो गया।

प्रथमत: दोषवंचकों ने किसी नागरिक को एक ट्राइब से अन्य ट्राइब में स्वेच्छानुसार परिवर्तित करने के अधिकार को देर तक बलोपभोग करने के अनंतर ही, संख्याधिक को यह आज्ञा दी कि वे जिस ट्राइब में भर्ती होना चाहते हों, हो जायँ; इस आज्ञा से कोई निश्चित लाभ न होकर दोषवंचना का एक बड़ा संसाधन विनष्ट हो गया। इसके अतिरिक्त, क्योंकि सब महान् और शक्तिशाली लोगों ने ग्रामीय ट्राइब्स में निज को भर्ती कराया, और मुक्त पुरुष नागरिक होने के अनंतर अन्य जनता के साथ नगरीय ट्राइब्स में रहे, इसलिये साधारणतया ट्राइब्स में क्षेत्र अथवा मंडल का कोई भेद न रहा; और वे ऐसी सम्मिश्रित हो गयीं कि पंजीयों की सहायता के बिना प्रत्येक ट्राइब के सदस्यों को पहिचानना असम्भव हो गया, यहाँ तक कि शब्द ट्राइब का आशय वास्तविक से वैयक्तिक में परिवर्तित हो गया, अथवा मनगढंत-सा हो गया।

अन्तिम फल यह हुआ कि समीप होने के कारण नगरीय ट्राइब समिति में बहुत शक्तिसम्पन्न हो गयी और राज्य को उन लोगों के हाथ विक्रय करने लगी जो इन ट्राइब्स के घटक जमवट के मत को क्रय करने की नीचता करते थे।

जहाँ तक क्यूरिआ का संबंध है, निर्माता द्वारा प्रत्येक ट्राइब में दस निर्मित किये जाने से समस्त रोम की जनता में, जो उस समय नगर की भित्ति के अंतर्गत थी, तीस क्यूरी स्थापित थीं; प्रत्येक के अपने मंदिर, देव, अधिकारी, पुरोहित और उत्सव होते थे जिन्हें compitalia का जाता था; ये तदनंतर ग्रामीय ट्राइब्स द्वारा स्थापित paganalia के समान होते थे।

सर्वियस द्वारा निरूपित नवीन विभाजन में, तीन चार ट्राइब्स में समान रूप से विभाजित न हो सकने के कारण, वह इनको बदलना नहीं चाहता था; ट्राइब के स्वतंत्र होने के कारण रोम के निवासियों का क्यूरिआ एक अन्य विभाजन रूप हो गया। परंतु ग्रामीय ट्राइब्स में अथवा उन्हें निर्माण करनेवाले लोगों में क्यूरिआ की स्थापना का कोई प्रश्न नहीं था, क्योंकि ये ट्राइब्स एक विशुद्ध सामाजिक संस्था हो जाने के कारण और सैनिक उद्ग्रहण करने की एक अन्य नीति स्थापित हो जाने के कारण, रोम्युलस द्वारा बनाये हुए सैनिक भाग व्यर्थ हो गये थे। इसलिये यद्यपि प्रत्येक नागरिक किसी न किसी ट्राइब में भर्ती होता था परंतु प्रत्येक क्यूरिआ में भी अवश्य भर्ती हो, ऐसी दशा नहीं थी।

सर्वियस ने एक अन्य तृतीय विभाजन किया, जिसका पूर्ववर्तीय दो से कोई संबंध नहीं था, परंतु जो प्रभावत: सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उसने समस्त रोम की जनता को छ: वर्गों में विभाजित किया, और इन वर्गों का अंतर निवास

स्थान के आधार पर नहीं, न मनुष्यों के आधार पर, बल्कि सम्पत्ति के आधार पर किया। ताकि प्रथम वर्ग तो धनी मनुष्यों से परिपूर्ण किये गये, अंतिम दीन मनुष्यों से, और मध्यस्थ उनसे जो मध्यम ऐश्वर्य का उपभोग करते थे। उपर्युक्त छः वर्ग १९३ अन्य निकायों में, जिन्हें सैंचुरी कहते थे, विभाजित किये गये; और इन निकायों को इस प्रकार वितरित किया गया कि अकेले प्रथम वर्ग में आधे से अधिक लोग सम्मिलित थे और अंतिम वर्ग में केवल एक। परिणाम यह था कि संख्या न्यूनतम वर्ग में अधिकतम सैंचुरी बनीं, और अंतिम सम्पूर्ण वर्ग की गणना केवल एक उपभाग के रूप में हुई हालाँकि यह अकेला रोम के आधे से अधिक निवासियों को अंतर्धारित करता था।

इस हेतु कि लोग इस अंतिम प्रकार का परिणाम प्रत्यक्ष रूप में अवलोकित न कर सकें, सर्वियस ने इसे सैनिक रूप देने का आडंबर किया; दूसरे वर्ग में उसने शस्त्रधारकों की दो सैंचुरीज़ और चौथे वर्ग में सैनिक उपकरणों के निर्माताओं की दो सैंचुरीज़ पुरस्थापित कर दीं। अंतिम वर्ग के अतिरिक्त, प्रत्येक वर्ग में उसने युवा और वृद्ध में भेद किया, अर्थात् उनमें जिन पर शस्त्र धारण करने का दायित्व था और उनमें जो अपनी अवस्था के कारण विधान द्वारा मुक्त हो चुके थे; सम्पत्ति के अभिनिर्धारण से कहीं अधिक इस अंतर के कारण बारम्बार जनगणना करने की आवश्यकता होती थी। अंत में, उसने यह नियम बनाया कि समिति का अधिवेशन Campus Martius में हुआ करे और वे सब व्यक्ति जो अवस्था के आधार पर सैनिक सेवा के योग्य थे वहाँ अपने शस्त्रों सहित उपस्थित हुआ करें।

उसने अंतिम वर्ग में ज्येष्ठों और कनिष्ठों में इसी प्रकार अंतर क्यों स्थापित नहीं किया, इसका कारण यह है कि जिस जनभाग द्वारा यह वर्ग निर्मित हुआ था उसे देश के लिये शस्त्र धारण करने का सन्मान प्राप्त नहीं था; वासभूमि को परिरक्षित करने का अधिकार प्राप्त करने के लिये पहले वासभूमि तो हो। और राजाओं की सेनाओं में जो असंख्यात भिखमंगों के दल आज दृष्टिगोचर होते हैं सम्भवतः उनमें एक भी ऐसा नहीं होता जो रोम की सेना में घृणा से बहिष्कृत न कर दिया जाता, जब कि रोम के सैनिक स्वतंत्रता के परिरक्षक होते थे।

अपरंच, अंतिम वर्ग में श्रमजीविकों और अन्यों में जो Cadite censi कहलाते थे अंतर किया जाता था। श्रमजीवी सम्पूर्णतया दरिद्र नहीं होते थे, वे राज्यों को नागरिक, और कभी कभी आपत्तिकाल में सैनिक भी, प्रदान करते थे। जहाँ तक उन लोगों का संबंध है जिनके पास कुछ था ही नहीं और जिनकी गणना केवल शिरों द्वारा

की जाती थी, वे सर्वथा अनावश्यक समझे जाते थे; मेरियस ने ही सर्वप्रथम उन्हें भरती तक करने की कृपा की थी।

इस बात का कि यह तृतीय विभाजन स्वतः अच्छा था या बुरा, निर्णय किये बिना, मैं समझता हूँ कि यह निश्चयरूप में कहा जा सकता है कि आद्य रोम निवासियों के सरल स्वभाव, निरपेक्षता, कृषि प्रेम और वाणिज्य तथा लाभ के तीव्रानुसरण के तिरस्कार के कारण ही यह व्यवहार सम्भव हो सका। किस वर्तमान राष्ट्र में तीव्र लोभ, भावों की व्यग्रता, षड्यंत्र, निवास का निरंतर परिवर्तन और भाग्य के शाश्वत उलट फेर इस प्रकार की संस्था को सम्पूर्ण राज्य को पलटे बिना बीस वर्षों तक स्थापित रहने देते? वास्तव में इस ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि रोम में इस संस्था की त्रुटियाँ, शील और दोषवंचन द्वारा, जो इस संस्था से ज्यादा शक्तिशाली थे, संशोधित होती रही और अनेक धनी मनुष्य अपने वैभव का अत्यधिक प्रदर्शन करने के कारण दीनों के इस वर्ग में अवतरित किये जाते रहे।

उपर्युक्त से हम सुगमतापूर्वक समझ सकेंगे कि क्यों पाँच वर्गों से अधिक का कभी उल्लेख नहीं किया जाता, हालाँकि वास्तव में छः वर्ग थे। छठाँ वर्ग जो न सेना को सैनिक प्रदान करता था और न Campus martius को[1] मतदाता, और जो गणराज्य के लिये निरर्थक मात्र था, कोई बहुत महत्त्व का नहीं माना जाता था।

रोम के लोगों के ये विभिन्न भाग हैं। अब हम देखेंगे कि परिषदों में इन भागों का क्या प्रभाव होता था। विधानानुसार समाहूत ये परिषदें कमिटिया कहलाती थीं। इनका अधिवेशन रोम के फोरम में अथवा Campus martius में हुआ करता था, और इनके रूप उन तीन प्रकारों के अनुसार थे जिन पर ये विनियमित होते थे, और Comitia curiata, Comitia centuriata और Comitia tributa कहलाते थे; Comitia curiata रोमुलस द्वारा संस्थापित हुई थी, Comitia centuriata सर्वियस द्वारा और Comitia tributa लोगों के न्यायरक्षकों द्वारा। कमिटिया द्वारा पारित होने के अतिरिक्त, न किसी विधान को सम्मोदन प्राप्त होता था और न किसी दंडाधिकारी का निर्वाचन हो सकता था, और क्योंकि कोई

१ मैं "कैंपस मार्टियस को" यह शब्द प्रयुक्त करता हूँ, क्योंकि कैंपस मार्टियस में comitia centuriata का अधिवेशन होता था। अपने दूसरे रूप में सभा फोरम में अथवा किसी अन्य स्थान पर सम्मिलित होती थी; और तब capite censi इतना ही प्रभाव और प्रभुत्व प्राप्त करती थी जितना कि प्रमुख नागरिक।

ऐसा नागरिक नहीं था जो किसी न किसी कमिटिया, तथा सैंचुरिया, अथवा ट्राइब में भर्ती न हुआ हो, इसलिये यह स्पष्ट है कि किसी नागरिक को मताधिकार से अपवर्जित नहीं किया गया था। अर्थात् रोम के लोग वास्तविक रूप में विधानतः और वस्तुतः सार्वभौम-सत्ताधिकारी थे।

कमिटिया का न्यायसंगत अधिवेशन होने के लिये और उसमें किये हुए कार्य को विधान का बल प्राप्त करने के लिये, तीन शर्तों की पूर्ति आवश्यक थी; प्रथम कि जिस निकाय अथवा दंडाधिकारी द्वारा उन्हें सामहूत किया जाय, उसमें उस प्रयोजन के लिये आवश्यक प्रभुत्व विनियोजित होना चाहिये; द्वितीय कि परिषद् का अधिवेशन किसी ऐसे दिन होना चाहिये जो विधान द्वारा अनुमत हो; तृतीय कि शकुन अनुकूल होने चाहिये।

पहली शर्त के कारण की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। द्वितीय नीति का विषय है; कमिटिया का अधिवेशन उत्सव के दिन अथवा हाट के दिन करना अनुमत नहीं था, क्योंकि उस दिन ग्रामीण लोग रोम में व्यापार के हेतु आने के कारण दिन को परिषद् के अधिवेशन में व्यतीत करने का अवकाश प्राप्त न कर सकते थे। तीसरी शर्त द्वारा शिष्ट सभा अहंकारी और उपद्रवी लोगों पर नियंत्रण रखती थी और यथासमय राजद्रोही न्यायरक्षकों की उग्रता को मंद करती थी; परंतु राजद्रोही लोग इस निबाध से मुक्त होने के अनेक साधन खोज लेते थे।

विधान और प्रमुखों का निर्वाचन, केवल यही दो विषय कमिटिया के निर्णय के हेतु प्रस्तुत नहीं होते थे। रोम के लोगों द्वारा शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ बलाधिकृत हो जाने के कारण, यह कहा जा सकता है कि यूरोप के भाग्य का निश्चयन लोगों की परिषदों में ही होता था। विषयों की उपर्युक्त विभिन्नता के कारण परिषदों के उन विभिन्न प्रकारों को पर्याप्त विस्तार मिल जाता था जो निर्णय हेतु प्रस्तावित विषयों के अनुसार ये धारण करती थीं।

इन विभिन्न प्रकारों का मूल्यांकन करने के हेतु, इनकी तुलना करना पर्याप्त है। क्यूरिया को स्थापित करने में रोम्यूलस की इच्छा यह थी कि शिष्ट सभा को लोगों द्वारा और लोगों को शिष्ट सभा द्वारा अवरुद्ध किया जाय और सब पर समान प्रभुत्व स्थापित किया जाय। इसलिये उसने इस संस्था द्वारा लोगों को संख्या का समस्त प्रभुत्व प्रदान किया ताकि वह शिष्टवर्ग के बल और सम्पत्ति के विरुद्ध संतुलित हो सके। परन्तु राजतंत्र की प्रवृत्ति के अनुसार, उसने फिर भी अधिक लाभ शिष्टवर्ग को ही दिया जो अपने आश्रितों के प्रभाव द्वारा मताधिक्य प्राप्त करने में सफल हो सकते थे। आश्रय-

दाताओं और आश्रितों की यह सराहनीय संस्था नीति और मनुष्यत्व की एक अद्वितीय रचना थी, जिसके बिना शिष्टवर्ग जो संघराज्य के स्वभाव के निरंतर विपरीत था, निर्वाहित नहीं हो सकता था। केवल रोम को ही विश्व को इस श्रेष्ठ संस्था के प्रदान करने का श्रेय है; इस संस्था का कभी कोई दुरुपयोग नहीं हुआ, परंतु फिर भी इसका कभी अनुसरण नहीं हुआ।

क्यूरिया की परिषद का रूप सर्वियस के तथा राजाओं के समय में भी निर्वाहित रहा, और चूंकि अन्तिम Tarquin का राज्य न्यायसंगत नहीं माना जाता है, इसलिये साधारणतया राजकीय विधानों को Leges curiatea नाम देकर उनमें भेद किया जाता रहा।

संघराज्य के अंतर्गत क्यूरिया की परिषद्, जो सदा चार नगरीय ट्राइब्स तक सीमित थी, और जो केवल रोम की जनता को ही अंतर्धारण करती थी, शिष्ट सभा और धर्मरक्षकों के अनुरूप नहीं होती थी; शिष्ट सभा शिष्ट वर्ग की प्रधान होती थी और धर्मरक्षक निम्नजातीय होते हुए भी मध्यवर्गीय नागरिकों के प्रधान होते थे। इसीलिये curia की परिषद् निंद्य हो गई और इसकी हीनावस्था में यह स्थिति हो गई कि उसके तीस एकत्रित Lictors नें यह सब कार्य करने आरम्भ किये जो Comitia curiata द्वारा होने चाहिये थे।

Centuries पर आधारित विभाजन शिष्टवर्ग का इतना पक्षपाती था कि सर्वप्रथम हमें यह आश्चर्यजनक लगता था कि जिस कमिटिया का यह नाम था और जिसमें उपराज्यपाल दोषवंचक और अन्य unrule दंडाधिकारी निर्वाचित होते थे, उसमें शिष्टसभा सदा प्रभावित क्यों नहीं हो पाती थी। वास्तव में समस्त रोम की जनता के छः वर्गों के १९३ सैंचुरी में से अकेले प्रथम वर्ग की ९८ सैंचुरी होती थीं, और चूंकि मतगणना सैंचुरी के आधार पर की जाती थी इसलिये अकेले इस प्रथम वर्ग को बाकी अन्य वर्गों से मताधिक्य प्राप्त था। जब सब सैंचुरी एकमत होती थीं तो मतों का अभिलेखन भी छोड़ दिया जाता था; जो वास्तव में संख्यान्यून द्वारा निर्णीत हुआ था, उसे जनसमूह का निर्णय समझा जाता था, और हम यह कह सकते हैं कि Comitia centuriata में कार्यों का विनियमन मतों के आधिक्य की अपेक्षा मुकुटों के आधिक्य के आधार पर होता था।

परंतु इस अत्यधिक शक्ति का परिमितकरण दो प्रकार से होता था। प्रथम धर्मरक्षक सामान्यतः और शिष्टवर्ग की अधिक संख्या सदा धनी श्रेणी में होने के कारण, वे इस प्रथम वर्ग में शिष्टवर्ग के प्रभाव को संतुलित करते थे।

दूसरा साधन इसमें वेष्टित था कि सैंचुरीज़ का मत वर्गों के क्रम से लेने की अपेक्षा, जिसके अंतर्गत पहला वर्ग सदा आरम्भ में होता था, आरम्भ करनेवाले वर्ग के नाम भाग्यपत्रक द्वारा निश्चित किया जाता था,[1] और केवल यही अकेला वर्ग निर्वाचन कार्य सम्पन्न करता था; तदनंतर सब सैंचुरियाँ अपने क्रम के अनुसार किसी अन्य दिन आहूत होकर निर्वाचन को प्रचलित करती थीं और साधारणतः पुष्ट करती थीं। इस प्रकार प्रजातंत्र के सिद्धांत के अनुसार, नेतृत्व की शक्ति क्रम से हटाकर भाग्यपत्रक द्वारा प्रदत्त की जाने लगीं।

उपर्युक्त व्यवहार से एक और लाभ फलित हुआ; ग्राम्य क्षेत्र के नागरिकों को दो निर्वाचनों के मध्य अस्थायी रूप से निर्वाचित हुए पदाभिलाषी के गुण दोषों के संबंध में पूरी जानकारी प्राप्त करने का समय उपलब्ध होने लगा, जिससे वे अपने मत तथ्यों के आधार पर अभिलिखित करने लगे। परंतु त्वरता के बहाने से, इस व्यवहार को समाप्त कर दिया गया, और दोनों निर्वाचन एक ही दिन होने लगे।

कमिटिया tributa वास्तव में रोम के लोगों की सभा थी। इसका आमंत्रण केवल न्याय-रक्षकों द्वारा किया जाता था; और इसमें न्यायरक्षकों का निर्वाचन होता था और उनके plebiscite को पारित किया जाता था। इस सभा में शिष्ट सभा का कोई अस्तित्व नहीं था, शिष्ट सभा को इसमें उपस्थित होने तक का अधिकार नहीं था; इस प्रकार जिन विधानों पर वे अपना मत नहीं दे सकते थे उन विधानों का भी अनुपालन करने को बाध्य होने के कारण, इस आधार पर, शिष्ट सभासद निम्नतम नागरिक की अपेक्षा कम स्वतंत्र थे। यह अन्याय सर्वथा अव्यवहार कुशल था और केवल यही उस निकाय के प्रादेशों को अमान्य कराने को पर्याप्त सिद्ध हुआ जिसमें सब नागरिक उपस्थित नहीं हो सकते थे। यदि सब शिष्टवर्गीयजन इस कमिटिया में नागरिकों के अधिकार के रूप में भाग लेते तो वे, सरल व्यक्तिरूप हो जाने के कारण, मतगणना के ऐसे प्रकार में जहाँ मतों की गणना संख्यानुसार होती थी और जहाँ क्षुद्रतम निम्नवर्गीय शिष्ट सभा के प्रमुख जितनी शक्ति को प्राप्त कर सकता था, बहुत प्रभाव नहीं डाल सकते थे।

१ यह सैंचुरिया, इस प्रकार भाग्यपत्रक से चुने जाने पर, prarogativa **कहलाती थी, क्योंकि सर्वप्रथम इसका मत माँगा जाता था। इसी से शब्द** prerogative **प्राप्त हुआ।**

इसलिये हम देखते हैं कि इतने बड़े राष्ट्र के मतों को एकत्रित करने के हेतु विभिन्न भागों का जो क्रम संस्थापित किया गया, उसके अतिरिक्त इन भागों को किसी ऐसे आकार में बद्ध नहीं किया गया जो स्वतः निरपेक्ष हों, बल्कि प्रत्येक भाग से उसके निर्माण के अन्तर्निहित अभिप्रायों को प्रत्यक्षतः प्राप्त किया गया।

उपर्युक्त तत्व का अधिक विस्तार से विवेचन न करते हुए भी, पूर्ववर्ती व्याख्या से यह सिद्ध है कि Comitia tributa शासन के और Comitia centuriata शिष्ट जनराज्य के अधिक अनुकूल थी। जहाँ तक Comitra curiata का संबंध है, जिसमें केवल रोम की जनता का संख्याधिक्य था, क्योंकि यह जनता अत्याचार और दुष्ट प्रयोजनों के ही अनुकूल होती थी, इसलिये इस कमिटिया का अप्रतिष्ठित स्थिति में अवतीर्ण हो जाना न्यायसंगत ही था, चाहे राजद्रोही स्वतः ऐसे साधन से विलग रहे जहाँ उनकी योजनाएँ प्रत्यक्षतया प्रकट हो जातीं। यह निश्चित है कि रोम के लोगों की सम्पूर्ण आभा केवल Comitia centuriata में ही प्रदर्शित होती थी, क्योंकि केवल यह कमिटिया ही सम्पूर्ण थी; Comitia curiata में ग्रामीय ट्राइब्स की और Comitia tributa में शिष्ट सभा तथा शिष्टवर्गीय लोगों की अनुपस्थिति रहती थी।

आद्य रोम निवासियों में मत अभिलेखन की रीति उतनी ही सरल थी जितनी उनकी अन्य प्रथाएँ, परंतु फिर भी स्पार्टा से कम सरल थीं। प्रत्येक व्यक्ति अपने मत को ऊँची ध्वनि से प्रदर्शित करता था, और अभिलेखक इसे पंजी में दर्ज करता था। प्रत्येक ट्राइब के मताधिक्य से ट्राइब का मत निश्चित किया जाता था, ट्राइब्स के मताधिक्य द्वारा लोगों का मत निर्णीत किया जाता था, और यही प्रथा क्यूरी और सैंचुरी में अनुसारित होती थी। यह व्यवहार तब तक ठीक था जब तक नागरिकों में सत्यता व्याप्त थी और प्रत्येक व्यक्ति अपने मत को सार्वजनिक रूप में किसी अन्यायपूर्ण कृत्य के लिये अथवा अयोग्य मनुष्य के लिये अभिलिखित करने में शर्म अनुभूत करता था; परंतु जब लोग भ्रष्ट हो गये और मत क्रय किये जाने लगे, तो यह आवश्यक हुआ कि मतों का अभिलेखन गुप्त रूप से किया जावे ताकि क्रयकर्ताओं पर संदेह का नियंत्रण रहे और धूर्तों को राजद्रोही बनने का अवसर न मिले।

मैं जानता हूँ कि सिसरो इस परिवर्तन को दोषपूर्ण कहता है और इसका अंशतः कारण संघराज्य की अवनति को बताता है। परंतु इस विषय में, सिसरो के अधिकार का बल अनुभूत करते हुए भी, मैं उसके मत को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। इसके

विपरीत मेरी यह मान्यता है कि इस प्रकार के पर्याप्त परिवर्तन न करने के कारण राज्य का विनाशक्रम वेगशील हुआ। यथा स्वस्थ व्यक्तियों के पथ्य नियम रोगियों के अनुपयुक्त होते हैं, इसी तरह भ्रष्ट लोगों को उन विधानों के अंतर्गत, जो उत्तम राज्य के अनुकूल हैं, प्रशासित करने की चेष्टा करना अवांछनीय है। इस युक्ति को वेनिस के गणराज्य की अपेक्षा कोई और दृष्टांत अधिक तथ्यत: सिद्ध नहीं करता है; अब इस गणराज्य का आकारमात्र रह गया है, क्योंकि इसके विधान कुचेष्ट मनुष्यों के अतिरिक्त किसी और के उपयुक्त नहीं हैं।

इसलिये नागरिकों में गोलियाँ वितरित की जाने लगीं जिनके आधार पर प्रत्येक अपने निर्णय को गुप्त रखते हुए अपना मतदान कर सकें। गोलियों को एकत्रित करने के लिये, मतों की गणना करने के लिये, और संख्या की तुलना करने इत्यादि के लिये नवीन आवेष संस्थापित हुए। परंतु इससे भी इन कार्यों को करनेवाले पदाधिकारियों की ईमानदारी पर संदेहारोपण समाप्त नहीं हुआ। अंत में, षड्यंत्रों और मतों के क्रय-विक्रय को रोकने के लिये, कुछ राजघोषणाएँ की गईं जिनकी संख्या उनकी निरर्थकता को सिद्ध करती है।

अंतिम वर्षों में, विधानों के दोषों की पूर्ति के हेतु, उन्हें बहुधा असाधारण उपकरणों का अवलंबन करना पड़ा। कभी कभी विलक्षण गुणों का बहाना किया जाता था, परंतु यह तरीका, जो लोगों को प्रभावित कर सकता था, उन पर जो प्रशासन करते थे बहुत प्रभावकारी नहीं हुआ। कई बार परिषद् का अधिवेशन पदाभिलाषियों को मतार्थन का समय देने के पूर्व ही शीघ्रता से आमंत्रित कर लिया जाता था। कभी कभी, जब ऐसा आभास होता था कि लोग दोषी प्रस्ताव को पारित करने के लिये उद्यत कराये जा चुके हैं, समस्त अधिवेशन चर्चा में ही समाप्त कर दिया जाता था। परंतु अंत में प्रबल इच्छाओं ने सब वस्तुओं को अपवंचित किया; और यह अविश्वसनीय प्रतीत होता है कि इतने भारी दोषों के मध्य यह महान् राष्ट्र अपनी प्राचीन संस्थाओं के अनुग्रह से दंडाधिकारियों को निर्वाचित करने, विधानों को पारित करने, प्रकरणों को निर्णीत करने और सार्वजनिक और वैयक्तिक कार्यों को लगभग उतनी ही सरलता से निष्पादित करने में जितनी शिष्ट सभा स्वत: कर सकती थी, कभी पर्यवसित नहीं हुआ।

परिच्छेद ५

धर्मरक्षकता

जब राज्य के संघटक भागों में निश्चित संबंध प्रतिष्ठापित नहीं किया जा सकता, अथवा जब अविनाशी कारण इन संबंधों को निरंतर परिवर्तित करते रहते हों, तो एक विशिष्ट दंडाधिकार संस्थापित किया जाता है जो अन्यों में समाविष्ट नहीं किया जाता, बल्कि जो प्रत्येक मर्यादा को अपने सत्य संबंधों में पुनः स्थापित करता है, और शासनाधिकारी और लोगों के बीच, अथवा शासनाधिकारी और सार्वभौमिक सत्ता के बीच, अथवा आवश्यकतानुसार एक साथ ही उपर्युक्त दोनों के बीच, एक सम्पर्क अथवा मध्यस्थ मर्यादा निर्मित करता है।

यह निकाय, जिसको मैं धर्मरक्षकता कहूँगा, विधानों का और विधायी शक्ति का परिरक्षक होता है। कभी कभी यह सार्वभौमिक सत्ता की शासन के विरुद्ध रक्षा करने में सहायक होता है, यथा रोम में लोगों के धर्मरक्षकों ने किया था ; कभी कभी यह शासन का लोगों के विरुद्ध समर्थन करता है, यथा वेनिस में दसों की सभा अब कर रही है; और कभी कभी यह एक तथा दूसरे भाग में साम्य संधृत करता है, जैसे स्पार्टा में ऐफ़र्स ने किया था।

धर्मरक्षकता राज्य का संघटक भाग नहीं होता, और विधायी तथा अधिशासी शक्ति में इसका कोई अंश नहीं होना चाहिये, परंतु इसी कारण धर्मरक्षकता की महानतम शक्ति होती है : क्योंकि स्वयं कुछ न कर सकते हुए भी यह सब कार्यों को निवारित कर सकती है। शासनाधिकारी, जो विधानों को कार्यान्वित करता है, और सार्वभौमिक सत्ताधिकारी, जो विधानों को निर्मित करता है, की अपेक्षा विधानों के परिरक्षक होने के कारण यह अधिक पवित्र और अधिक आदरणीय है। रोम में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हुआ, जब अहंकारी शिष्टवर्गीय, जो समस्त लोगों को सदा

घृणा की दृष्टि से देखते थे, लोगों के एक ऐसे सरल पदाधिकारी के समक्ष, जिसे न कोई तत्वाविधान और न कोई अधिकार-क्षेत्र उपलब्ध था, नमने को बाध्य हुए थे।

बुद्धियुक्त अनतिशील धर्मरक्षकता अच्छे संविधान का प्रबलतम समर्थनरूप होती है; परंतु यदि इसकी शक्ति में न्यूनतम भी अतिरेक घटित हो जाय तो यह प्रत्येक वस्तु को उलट देती है; जहाँ तक निर्बलता का सम्बन्ध है, वह इसमें स्वभाव से ही नहीं होती; और यदि इसमें कुछ भी शक्ति निहित हो, तो यह शक्ति जितनी होनी चाहिये उससे कभी न्यून सिद्ध नहीं होती।

जब धर्मरक्षकता अधिशासी शक्ति के संयतकर्ता होने के बजाय उस पर बलाधिकार प्राप्त कर लेती है अथवा जब यह विधानों को, जिन्हें इसे केवल प्रतिरक्षित करना चाहिये, निर्माण करने की इच्छुक हो जाती है, तो यह अत्याचार में विह्लसित हो जाती है। ऐफ़र्स की महान शक्ति, जो उस समय तक, जब तक स्पार्टा अपनी नीति पर स्थापित रहा, भयरहित थी, भ्रष्टाचार आरम्भ हो जाने पर केवल इसे ही प्रोत्साहित करने में सहायक हुई। इन अत्याचारियों द्वारा हत एजिस के रक्त का बदला उसके उत्तराधिकारी द्वारा लिया गया, परंतु इस अपराध तथा ऐफ़र्स का दंडित होना दोनों ने संघराज्य के पतन को शीघ्रगामी किया, और Cleomenes के अनंतर स्पार्टा का कोई महत्त्व नहीं रहा। रोग भी इसी प्रकार विनष्ट हुआ, और धर्मरक्षकों की प्रादेश द्वारा अनधिग्रहीत अत्यधिक शक्ति अंत में, स्वतंत्रता के रक्षण हेतु बनाये हुए विधानों की सहायता से, उसे विनष्ट करनेवाले सम्राटों का ढाल मात्र बन गई। जहाँ तक वैनिस की दशीय सभा का संबंध है, यह तो रक्त की धर्मसभा है जो शिष्ट वर्ग और लोग दोनों को भयावह है और जो विधानों को दृढ़ता से परिरक्षित करने की अपेक्षा विधानोंके पतन के समय से केवल गुप्त आघातों का एक साधन मात्र बन जाती है जिसकी मनुष्य चर्चा तक करने का साहस नहीं कर सकते ।

शासन के समान, धर्मरक्षकता भी, सदस्यों की संख्या बढ़ जाने के कारण, निर्बल हो जाती है। जब रोम के लोगों के धर्मरक्षक, सर्वप्रथम संख्या में दो, और तदनंतर पाँच, अपनी संख्या को द्विगुणित करने के इच्छुक हुए, तो शिष्ट सभा ने उन्हें ऐसा करने की अनुमति दी, क्योंकि शिष्ट सभा को विश्वास था कि एक सदस्य द्वारा दूसरे को नियंत्रित किया जा सकता है, और घटित भी ऐसा ही हुआ।

इतने प्रबल निकाय को बलाधिकार से निवारित करने का उत्तम साधन यह होगा——इस साधन को अभी तक किसी शासन ने प्रयुक्त नहीं किया है——कि इस निकाय

को स्थायी न बनाया जाय, परंतु कुछ ऐसे मध्यंतर निश्चित किये जाएँ जिनमें यह निलंबित रहे। इन मध्यंतरों का, जो इतने दीर्घ नहीं होने चाहिये कि दोष संस्थापित हो सकें, निश्चयन विधान द्वारा इस प्रकार किया जा सकता है कि आवश्यकता के अनुसार असाधारण आयोगों द्वारा उन्हें संक्षिप्त करना सरल हो सके।

मुझे उपर्युक्त रीति आपत्तिरहित प्रतीत होती है, क्योंकि जैसे मैं पहिले कह चुका हूँ, धर्मरक्षकता संविधान का अंग न होने के कारण बिना अहित के लुप्त की जा सकती है; और मुझे यह रीति बहुत फलोत्पादक प्रतीत होती है, क्योंकि नवनियुक्त दंडाधिकारी अपने पूर्वाधिकारी की शक्ति से कार्यारंभ नहीं करता, परंतु विधान द्वारा प्रदत्त शक्ति का ही प्रयोग करता है।

परिच्छेद ६

एक शास्तृत्व

विधानों की अनानम्यता, जो उनको संकटकालीन स्थितियों के अनुरूप बनने में बाधक होती है, किन्हीं दिशाओं में उन्हें सर्वथा प्रणाशी बना देती है, और इस कारण संकटकाल में राज्य के विनाश का कारण बन जाती है। प्रकारों का क्रम तथा मंदता समय के इतने अंतर की माँग करते हैं कि परिस्थितियाँ कभी कभी ऐसा होने ही की अनुमति नहीं देतीं। सहस्र ऐसे प्रकरण स्थापित हो सकते हैं जिनका विधिकर ने पूर्वविधान न किया हो, और यह धारणा कि प्रत्येक वस्तु की पूर्वकल्पना नहीं हो सकती दूरदर्शिता का एक आवश्यक अंश है।

इसलिए हमें राजनीतिक संस्थाओं को इतनी दृढ़ता से संस्थापित करने की इच्छा नहीं करनी चाहिये कि उनके प्रभाव को निलंबित करना संभाव्य ही न रहे। स्पार्टा तक ने अपने विधानों को निष्क्रिय बनाने की संभावना रखी थी।

परन्तु सार्वजनिक क्रम को परिवर्तित करने के भय को केवल असाधारण संकट ही उद्भारित कर सकते हैं, और अतिरिक्त उस परिस्थिति के जब देश की सुरक्षा ही संकट में पड़ जाये, विधानों के पवित्र बल में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। उपर्युक्त बिरली तथा प्रत्यक्ष परिस्थितियों में, सार्वजनिक क्षेम का प्रावधान एक विशिष्ट कृत्य द्वारा किया जाता है। जिसके अन्तर्गत समस्त भार योग्यतम मनुष्य पर डाला जाता है। भय के प्रकार के अनुसार ही यह आयोग दो रीतियों से प्रतिपादित किया जाता है।

यदि उपर्युक्त दोष को निवारित करने के लिये शासन के कार्यों में संवर्द्धन कर देना पर्याप्त हो, तो हम उसे एक अथवा दो शासकीय सदस्यों में संकेन्द्रित कर सकते हैं। उस दशा में विधानों के प्रभुत्व में परिवर्तन नहीं होता, परन्तु उनके प्रशासन के प्रकार में ही परिवर्तन होता है। परन्तु यदि भय इस प्रकार का हो कि विधानों की नियमित

विधा ही हमारे क्षेम के प्रति बाधक हो जाय, तो एक वरिष्ट प्रमुख मनोनीत किया जाता है जिसे संपूर्ण विधानों को अवरुद्ध करने और सार्वभौमिक सत्ता को अल्पकाल के लिये स्थगित करने तक का अधिकार होता है; उस दशा में सर्वसाधारण प्रेरणा संशयात्मक नहीं रहती, और यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि लोगों की प्राथमिक अभिलाषा यह है कि राज्य विनष्ट न हो जाय। इस प्रकार विधायी शक्ति के निलंबन में इसकी समाप्ति निहित नहीं होती ; जो दंडाधिकारी इसे मूक करता है वह इसे वाणी नहीं दे सकता, वह इसका प्रतिनिधित्व करने की शक्ति प्राप्त किये बिना ही इसका प्रभु होता है; वह प्रत्येक कार्य कर सकता है परन्तु विधान नहीं बना सकता।

प्रथम रीति का प्रयोग रोम की शिष्ट सभा द्वारा किया गया था जब कि उसने उपराज्यपालों को एक पावन सूत्र द्वारा गणराज्य के क्षेम का प्रावधान करने के लिये भारित किया था। द्वितीय रीति उस समय प्रयुक्त हुई थी जब दोनों उपराज्यपालों में से एक ने शासता को उस प्रथा के अन्तर्गत मनोनीत किया[1] जिसका पूर्व प्रमाण रोम में आल्बा द्वारा स्थापित हुआ था।

गण राज्य के आरम्भ में एकशास्तृत्व का उपश्रयण बहुधा किया जाता था, क्योंकि तब तक राज्य की अपने संविधान के बल पर स्वतः को संधृत करने के हेतु पर्याप्त दृढ़ नींव नहीं बनी थी।

सार्वजनिक सदाचरण के कारण उस समय अनेक ऐसी सावधानियाँ अनावश्यक थीं जो अन्य समय में आवश्यक हो सकती थीं; कोई एकशासता अपने प्रभुत्व का दुरुपयोग करेगा, अथवा मर्यादा के परे अपने प्रभुत्व को प्रतिधारित करने की चेष्टा करेगा, इसका कोई भय ही न था। इसके विपरीत ऐसा लगता था कि इतनी अधिक शक्ति उस व्यक्ति के लिये जो इससे सज्जित होता था, भार स्वरूप होगी क्योंकि वह अपने आप को इससे शीघ्रतया पृथक् करने की ही चेष्टा करता था ; जैसे कि विधानों का स्थान प्राप्त करना अति दुष्कर और अति भयानक पद होता हो।

इसलिए इसके दुष्प्रयोग की अपेक्षा इसके पतन के भय के कारण ही मैं आद्यकाल में इस वरिष्ट दंडाधिकारता के अविवेकी प्रयोग की समालोचना करता हूँ। क्योंकि जब तक इसका मुक्त प्रयोग निर्वाचनों, समर्पणों और शुद्ध औपचारिक कार्यों तक ही सीमित रहा, तब तक यह भय लगा रहा कि आवश्यकता के समय में इसे कम महत्त्वपूर्ण

१ यह मनोनयन रात्रि को और गुप्त रीति से किया गया था, मानो वे किसी एक मनुष्य को विधानों के ऊपर स्थित करते हुए स्वयं लज्जित थे।

न समझा जाय और लोग इसे एक ऐसी थोथी पदवी के रूप में जिसका प्रयोग सारहीन उत्सवों में ही होता है अवलोकित करने के अभ्यस्त न हो जाँय।

गणराज्य के अंतकाल में, रोम निवासियों के अधिक सतर्क हो जाने से, अकारण ही एकशास्तृत्व का प्रयोग उतना ही कम किया जाने लगा जितना कि पूर्व में आधिक्य से किया जाता था। यह अवलोकन करना सुगम है कि उनका एक शास्तृत्व के प्रति भय बिलकुल निराधार था, कि राजधानी की दुर्बलता उन दंडाधिकारियों के विरुद्ध, जो राजधानी में पदासीन थे, पर्याप्त प्रन्यास रूप थी, कि विशिष्ट परिस्थितियों में एक शासता सार्वजनिक स्वतंत्रता को आक्रमित करने की अपेक्षा परिरक्षित करने में सहायक हो सकता था, और कि रोम के बंधन स्वतः रोम में ही नहीं बल्कि उसकी सेनाओं में निर्मित हो रहे थे। जो न्यून रोध मैरियस सिला के विरुद्ध और पौम्पी सीज़र के विरुद्ध कर सका उससे स्पष्ट विदित था कि आन्तरिक प्रभुत्व बाह्य बल के विरुद्ध कितना प्रभावशील हो सकता है।

इस विभ्रम के कारण उनसे महान् गलतियाँ हुईं ; उदाहरणार्थ, कैटलीन के प्रकरण में किसी एक-शासता को नियुक्त न करना। क्योंकि केवल नगर के अन्दर अथवा अत्यन्ततः इटली के सीमित क्षेत्र का ही प्रश्न था, इसलिए एक-शासता विधानों द्वारा प्रदत्त असीमित शक्ति द्वारा सुगमता से षड्यंत्र को भग्न कर सकता था, जो केवल ऐसी सुन्दर घटनाओं के संयोजन द्वारा दमन हो सका जिसकी कल्पना मानुषिक बुद्धि कभी नहीं कर सकती थी।

उपर्युक्त नीति अपनाने की अपेक्षा शिष्ट सभा ने अपनी संपूर्ण शक्ति को उपराज्यपालों में प्रन्यस्त करना संतोषप्रद महसूस किया ; जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रभावी कार्य करने के लिये सिसरो को एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अपने प्रभुत्व का अतिरेक करने को बाध्य होना पड़ा, और यद्यपि प्रसन्नता के प्रथम परिवहन में उसका आचार अनुमोदित हो गया, परन्तु तदनंतर विधानों के विपरीत नागरिकों का रक्त बहाने के लिये उसे न्यायतः प्राभियोजित किया गया ; यह तिरस्कार एकशासता के प्रति नहीं किया जा सकता था। परन्तु उपराज्यपाल की वक्तृत्व शक्ति से प्रत्येक व्यक्ति विजित हो गया ; और स्वयं रोमन होते हुए, उसने देश के हित की अपेक्षा अपनी निजी प्रसिद्धि को अधिमान्य करके राज्य को बचाने के निश्चिततम और नैयायिकतम साधनों की खोज करने के बजाय उसने ऐसी रीति को अपनाया जिससे इस घटना का

समस्त यश अपने लिये प्राप्त कर सके ।[1] इसलिए यह बिलकुल न्यायसंगत है कि रोम के मुक्तिदाता के रूप में उसका आदर हुआ और विधानों के आक्रमणकारी के रूप में वह दंडित हुआ । उसका प्रत्यावर्तन देदीप्यमान होते हुए भी वास्तव में वह एक क्षमादान ही था ।

अपरंच, इस महत्वपूर्ण आयोग का प्रदान किसी रीति से भी किया जाय, यह आवश्यक है कि इसकी अवधि एक बहुत लघु सीमा तक निश्चित हो जिसे लंबित करना संभव न हो सके, जिन संकटावस्थाओं में यह आयोग प्रकट होता है राज्य जल्दी ही विनष्ट अथवा सुरक्षित हो जाता है,और अविलंबनीय आवश्यकता समाप्त हो जाने के अनन्तर, एकशास्तृत्व अत्याचारपूर्ण अथवा निरर्थक हो जाता है । रोम में एकशासता की अवधि केवल छः मास थी, और इस अवधि के समाप्त होने के पूर्व ही संख्याधिक्य ने पदत्याग किया । यदि अवधि अधिक दीर्घ होती, तो संभवतः इसे और अधिक बढ़ाने के लिये वे प्रलोभित होते, जैसे द्वादशों ने अपनी एक वर्ष की अवधि को बढ़ाया था । एकशासता को केवल उस आवश्यकता की पूर्त्ति करने भर का समय मिल सका जिसके कारण उसका निर्वाचन हुआ था; अन्य योजनाओं के संबंध में विचार करने का उसे समय ही नहीं मिला ।

[1] एकशासता का प्रस्ताव करने में उसे यह संतोष नहीं हो सकता था, वह अपना नाम निर्दिष्ट नहीं कर सकता था और उसे यह विश्वास नहीं हो सकता था कि उसका साथी उसे मनोनीत करेगा ।

परिच्छेद ७

दोषवेचना

यथा सर्वसाधारण प्रेरणा की उद्घोषणा विधान द्वारा होती है उसी प्रकार जनमत की घोषणा दोषवेचना द्वारा होती है। जनमत विधान का एक प्रकार है जिसका दोषवेचक प्रशासी अधिकारी होता है और शासनाधिकारी की भाँति वह इसे विशिष्ट दशाओं में ही प्रयोग करता है।

इसलिए दोषवेचकगण लोगों के मत के विवेचक होने की अपेक्षा केवल उद्घोषक होते हैं, और ज्योंही यह उपर्युक्त स्थिति से विचलित हो जाते हैं, उनके निर्णय विफल और प्रभावहीन हो जाते हैं।

किसी राष्ट्र के चरित्र और उसकी मान्यता के प्रयोजनों में अंतर करना निरर्थक है, क्योंकि ये संपूर्ण वस्तुएँ समान सिद्धान्त पर आधारित होती हैं और आवश्यक रूप में सम्मिश्रित होती हैं। विश्व के संपूर्ण राष्ट्रों में, स्वभाव नहीं, परन्तु मत ही प्रसादों के वरण को निर्णीत करता है। मनुष्यों के मत को सुधार दीजिये, और उनकी रीतियाँ स्वतः विशुद्ध हो जायँगी। लोग सदा उसे पसन्द करते हैं जो औचित्यपूर्ण हो अर्थात् जिसे वे औचित्यपूर्ण समझें, और इस समझ में वे गलती कर देते हैं; इसलिये प्रश्न यह है कि उनकी समझ को ठीक निर्दिष्ट करना चाहिये। जो रीतियों का निर्णय करता है वह मान का निर्णय भी करता है। और जो मान का निर्णय करता है वह अपना विधान मत द्वारा प्राप्त करता है।

राष्ट्र का मत उसके संविधान से उत्स्रवित होता है; यद्यपि विधान शील का नियमन नहीं करता, तथापि विधायीकरण उसकी उत्पति करता है। जब विधायीकरण क्षति-ग्रस्त हो जाय तो शील भी भ्रष्ट हो जाता है, परन्तु उस दशा में दोषवेचकों का निर्णय वह कार्य नहीं कर सकता जो विधानों की शक्ति ही करने में असफल रही।

इससे यह सिद्ध है कि दोषवेदना शील को परिरक्षित करने में लाभप्रद होती है इसे पुनः प्राप्त करने में नहीं। जब विधान ओजस्वी हों उस समय दोषवेचकों का संस्थापन करना चाहिये, क्योंकि ज्योंही उनकी शक्ति लुप्त हो जाती है तो सब कुछ समाप्त हो जाता है। जब विधान ही अपने बल को खो बैठे हों, तो कोई अन्य वस्तु विधानसंगत होने के कारण बल प्राप्त नहीं कर सकती।

मतों को भ्रष्ट होने से निवारित करके, बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयुक्तियों द्वारा उनकी पवित्रता को परिरक्षित करके, कभी कभी जब वे अनिश्चित हों तो उन्हें निश्चित करके, दोषवंचना शील को समर्थित करती है। द्वन्द्वों में द्वितीयों का प्रयोग जो फ्रांस राज्यो में उन्मत्त चरमसीमा तक बढ़ गया था, राजा के प्रादेश में निहित इन सरल शब्दों द्वारा समाप्त हो गया—"जहाँ तक उन कायरों का संबंध है जो द्वितीयों को नियुक्त करते हैं।" सार्वजनिक निर्णय की पूर्वविधारणा करनेवाले इस निर्णय से तुरन्त फैसला हो गया। परन्तु जब इन प्रादेशों ने यह उद्घोषित करना चाहा कि द्वन्द्व युद्ध करना भी कायरता है, जो सर्वथा सत्य है, परन्तु साधारण मत के विपरीत है, तो जनता ने इस फैसले का उपहास किया, क्योंकि इस विषय पर इसका अपना निर्णय पहले ही बन चुका था।

मैं एक अन्य स्थान पर कह चुका हूँ[1] कि चूँकि जनमत का निबाध नहीं हो सकता इसलिये जनमत का प्रतिनिधित्व करने के लिये जो वर्ग स्थापित किया जाय उसमें निबाध का अवशेष नहीं होना चाहिये। आधुनिक लोगों में पूर्णतया विलुप्त इस बल का संचार रोम के लोगों में, और उससे भी अधिक सुन्दर रीति सेल सेडोमिस में, किस कलात्मक ढंग से होता था, उसकी हम जितनी अधिक प्रशंसा करें थोड़ी है।

स्पार्टा की सभा में एक अच्छा प्रस्ताव किसी दुश्चरित्र मनुष्य द्वारा संस्थापित किये जाने पर एफर्स ने उसे बिना देखे उसी प्रस्ताव को एक अन्य धर्मपरायण नागरिक द्वारा प्रस्तावित कराया था। दोनों को प्रशंसित अथवा तिरस्कृत किये बिना ही एक को कितना आदर और दूसरे को कितना कलंक प्राप्त हो गया। सामोस के कुछ शराबियों ने[2] एफर्स की धर्मसभा को अनादरित कर दिया; अगले ही दिन एक

१. इस परिच्छेद में केवल इस विषय को दर्शाता हूँ जिसका मैंने अधिक विस्तार से Letter to M. d' Alembert में विवेचन किया है।

२. ये लोग किसी और द्वीप के रहनेवाले थे, परन्तु हमारी भाषा की सुकुमारता इस अवसर पर इस द्वीप का नाम अंकित करने से हमें रोकती है।

सार्वजनिक प्रादेश द्वारा सामोस के लोगों को गन्दा रहने की अन्य आज्ञा प्रदान हो गयी। कोई वास्तविक दंड इस मुक्ति जैसा सख्त नहीं हो सकता था। जब स्पार्टा यह उद्घोषित करता था कि कौन कृत्य सम्माननीय अथवा इसके विपरीत हैं तो यूनान देश उसके निर्णयों के विरुद्ध पुनर्विचार की कोई प्रार्थना नहीं करता था।

परिच्छेद ८

सामाजिक धर्म

आरंभ में ईश्वर के अतिरिक्त मनुष्यों का कोई राजा नहीं था, और ईश्वरतंत्र के अतिरिक्त कोई शासन नहीं था। वे कैलीक्यूला के समान तर्क करते थे, और उस समय उनका तर्क भी न्यायसंगत होता था। अपने ही एक साथी को स्वामी के रूप में ग्रहण करने का संकल्प करने और यह संतोष प्राप्त कर सकने के लिये कि ऐसा करने से उनका भला होगा, मनुष्य को अपनी भावनाओं और विचारों को बहुत देर तक बदलना आवश्यक है।

केवल इस परिस्थिति से कि राजनीतिक समाज का प्रमुख ईश्वर होता था, यह प्रत्यक्ष है कि जितने राष्ट्र थे उतने ही ईश्वर होने चाहिये। दो राष्ट्र, जो एक दूसरे से विभिन्न हैं और प्रायः सदा शत्रु हैं, एक ही स्वामी को दीर्घकाल तक स्वीकार नहीं कर सकते थे। युद्धरत दो सेनाएँ एक ही नेता का आज्ञापालन नहीं कर सकती थीं। इसलिए राष्ट्रों के विभाजन का परिणाम अनेक ईश्वरवाद हुआ और इससे आध्यात्मिक और सामाजिक असहिष्णुता स्थापित हो गयी ; प्रकृतितः उपर्युक्त दोनों एक ही हैं जिसका बाद में निरूपण किया जायगा।

ग्रीक लोगों की यह मायावी धारणा कि असभ्य लोगों के मध्य वे अपने ही देवताओं को मान्य करते थे, इसलिए कल्पित हुई कि वे अपने आपको उन लोगों का स्वाभाविक सार्वभौम सत्ताधिकारी मानते थे। परन्तु आधुनिक काल में ऐसा ही हास्यास्पद पाण्डित्य विभिन्न राष्ट्रों के देवताओं की सारूपता पर आधारित है, अर्थात इस बात पर कि Moloch, Saturn & Chonos एक ही ईश्वर के नाम हैं अथवा Phoenician लोगों का Baal, Greek लोगों का Zeus, और रोमन लोगों का जुपिटर एक ही है, गोया विभिन्न नाम धारण करनेवाले काल्पनिक जीवों में कोई समानता हो सकती है।

परन्तु यदि यह प्रश्न किया जाय कि ईसाइयत के पूर्वकाल में जब प्रत्येक राज्य अपनी अलग पूजा और अपना अलग ईश्वर धारण करता था, क्यों धार्मिक युद्ध नहीं हुए, तो मेरा उत्तर होगा कि इसका उपर्युक्त ही कारण है, क्योंकि प्रत्येक राज्य अपने शासन की तरह पूजा का विशिष्ट प्रकार धारण करते हुए अपने विधानों को अपने देवताओं से विभिन्न नहीं मानता था। राजनीतिक युद्ध धार्मिक भी होते थे; ऐसा कहना चाहिये कि देवताओं के विभाग राष्ट्रों की सीमा से निर्धारित होते थे। एक राष्ट्र के देवता अन्य राष्ट्रों पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं करते थे। मूर्तिपूजकों के देवता ईर्षालु नहीं होते थे, उन्होंने विश्व का साम्राज्य आपस में विभाजित कर लिया था। मोज़ेज़ और यहूदी राष्ट्र भी कभी कभी इस विचार को अनुमोदित करते थे क्योंकि वह इज़राइल के देवता का उल्लेख करते थे। यह सत्य है कि वे केननाइट के देवताओं को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते थे, क्योंकि वह राष्ट्र बहिष्कृत और विनाशकारी था, जिसके देश को यहूदी स्वयं प्राप्त करना चाहते थे; परन्तु उन पड़ोसी राष्ट्रों के देवताओं का, जिन पर आक्रमण करना उनके लिये निषिद्ध था, वे निम्न प्रकार उल्लेख करते थे: Jephthan ने Ammonites को कहा "तुम्हारे देवता चामोस के स्वामित्व की वस्तु क्या वह नैयायिक रूप से तुम्हारी नहीं है? समान उपाधि से जिन क्षेत्रों को हमारे विजेता देवता ने अवाप्त कर लिया वे हमारे हो गये हैं।"[1] मेरी यह मान्यता है कि उपर्युक्त कथन में चामोज़ के अधिकार और इज़राइल के देवता के अधिकारों में अधिमानित समाहृता निहित है।

परन्तु जब यहूदियों ने बैब्युलून के राजा और तदनंतर सीरिया के राजाओं के अधीन हो जाने पर अपने देवता के अतिरिक्त किसी अन्य देवता को स्वीकार करने से हठपूर्वक इनकार किया तो विजेता द्वारा उस इनकार को राजद्रोह मानकर

१. उपर्युक्त पाठ वल्गेट का है। पेयर दि कारिये ने इसका नियमानुसार अनुवाद किया है "क्या तुम्हारी यह मान्यता नहीं है कि जो तुम्हारे देवता चामोस के स्वामित्व में हैं उसे प्राप्त करने का तुम्हारा अधिकार है?" मैं ह्यूबरो के पाठ के ठीक अर्थ से अनभिज्ञ हूँ परन्तु मैं यह देखता हूँ कि वल्गेट जैप्था ने देवता चामोस के अधिकार को निश्चित रूप से मान्य किया है और फ्रांसीसी अनुवादक ने इस स्वीकृति को "तुम्हारे मतानुसार" यह शब्द जो लैटिन में नहीं है, जोड़कर दुर्बल कर दिया है।

उन पर उत्पीड़ना की बौछार की गयी, जिसका उल्लेख हम उनके इतिहास में पढ़ते हैं और जो ईसाई धर्म से पहले उपद्रवों का एक मात्र उदाहरण है।[1]

इसलिए प्रत्येक धर्मराज्य द्वारा निर्धारित विधानों से अन्य रूपेण आसंजित होने के कारण, किसी राष्ट्र को वशीभूत करने के अतिरिक्त परिवर्तित करने का कोई और मार्ग नहीं था और विजेताओं के अतिरिक्त कोई और धर्मप्रचारक नहीं होते थे, और विजितों पर अपनी पूजा का आकार बदलने का दायित्व विधान द्वारा आरोपित होने के कारण धर्म परिवर्तन की बात करने के पूर्व विजित करना आवश्यक था। मनुष्य देवताओं के लिये युद्ध करने की अपेक्षा, यथा होमर में, देवता मनुष्यों के लिये युद्ध करते थे; प्रत्येक व्यक्ति अपने देवता से अपने विजय की याचना करता था और नयी वेदियाँ बनाकर उऋण होता था। किसी स्थान पर आक्रमण करने से पूर्व रोमन लोग वहाँ के देवताओं को उसे छोड़ देने के लिये आहूत करते थे और जब उन्होंने Tarentins के पास उनके उत्तेजित देवताओं को छोड़ा तो केवल इसलिये कि वे उन देवताओं को अपने देवताओं के अधीन और अपने देवताओं के प्रति प्रभुभक्ति अर्पित करने के लिये बाध्य मानते थे। उन्होंने विजितों के देवताओं को उसी प्रकार स्थिर रहने दिया जैसे उनके विधानों को। राजधानिक जुपिटर के लिये एक मुकुट, बहुधा वे विजितों पर यही उपहार आरोपित करते थे।

अंत में रोम के लोगों द्वारा अपनी पूजा तथा अपने देवताओं को अपने साम्राज्य के साथ साथ विस्तृत कर लिये जाने के कारण, और बहुधा विजितों की पूजा और देवताओं को, सबको नागरिकता का अधिकार अनुदत्त करके, अभिस्वीकृत कर लेने के कारण इस विस्तृत साम्राज्य के राष्ट्र अलक्ष्यतः यह अवलोकित करने लगे कि उनके देवताओं और धर्मों की संख्या अधिक और सब जगह समान हो गयी है और यही कारण है कि अंत में मूर्तिपूजा को विश्व में एक ही धर्म माना जाने लगा।

उपर्युक्त दशा में जीसस भूमि पर एक आध्यात्मिक राज्य संस्थापित करने को अवतरित हुआ; धार्मिक क्रम को राजनीतिक क्रम से अलग करके इस आध्यात्मिक संगठन ने राज्य की एकता को विनष्ट कर दिया और आन्तरिक विभाजनों को उत्पन्न

१. फ़ोशियों का युद्ध, जिसे पवित्र युद्ध कहा जाता है, वास्तव में धार्मिक युद्ध नहीं था, इसका दृढ़तम प्रमाण प्राप्त है। इस युद्ध का उद्देश्य दोषियों को दंडित करना था, अविश्वासियों को विजित करना नहीं।

कर दिया जो निरंतर ईसाई राष्ट्रों को क्षोभित करते आ रहे हैं। अन्य विश्व में स्थापित राज्य का यह नवविचार मूर्तिपूजकों के मस्तिष्क में कभी प्रविष्ट न हो सकने के कारण, वे ईसाइयों को सदा वास्तविक राजद्रोही मानते रहे और यह समझते रहे कि दंभी अनुवर्तन के आवरण में यह लोग अपने आपको स्वतन्त्र और वरिष्ट बनाने का अवसर खोज रहे हैं और चतुरता से उस प्रभुत्व पर बलाधिकार करना चाहते हैं जिसे निर्बलता के कारण वे आदरित करने का बहाना करते हैं। उत्पीड़नों का यही कारण है।

जिस बात का मूर्तिपूजकों को डर था वह वास्तव में घटित हो गयी ; तब हर चीज का रूप बदल गया; नम्र ईसाइयों ने अपनी ध्वनि बदल दी, और शीघ्र ही यह मिथ्या अन्य विश्व का राज्य इसी विश्व में एक प्रत्यक्ष प्रमुख के अधीन उग्रतम अनियंत्रित राज्यक्रम का रूप धारण कर गया।

परन्तु चूंकि उपर्युक्त राज्य में सदा ही शासनाधिकारी और सामाजिक विधान रहे हैं, इसलिए इस द्विपक्षीय शक्ति के कारण अधिकारक्षेत्र का शाश्वत विरोध उत्पन्न हुआ जिसके परिणामस्वरूप ईसाई राज्यों में एक किसी उत्तम शासन विधि का संस्थापन असंभव हो गया; प्रत्येक व्यक्ति यह समझने में असफल रहा कि उसके लिए राजा का आज्ञापालन करना उचित है अथवा पुरोहित का।

तथापि यूरोप में तथा उसके समीपस्थ क्षेत्रों में भी, अनेक राष्ट्र इस प्राचीन पद्धति को परिरक्षित करने अथवा पुनः स्थापित करने के इच्छुक हुए, परन्तु असफल रहे। ईसाइयत का सत्व प्रत्येक वस्तु पर आच्छादित हो गया। आध्यात्मिक पूजा सदा सार्वभौमिक सत्ताधिकारी की स्वतंत्रता को प्रतिधारित अथवा पुनःस्थापित करती थी, परन्तु राज्य के निकाय से कोई आवश्यक संबंध स्थापित किये बिना। मोहम्मद के विचार बहुत स्वस्थ थे; उसने अपने राजनीतिक क्रम को पूर्णरूपेण एकीकृत कर दिया और जब तक उसके उत्तराधिकारी खलीफों के अधीन उसके द्वारा स्थापित शासकीय प्रकार निर्वाहित रहा, शासन बिलकुल अभग्न और उस दृष्टि से उत्तम रहा। परन्तु संपन्न, विद्वान, सुसंस्कृत, स्त्रीवत् और आलसी हो जाने के कारण अरब के लोग असभ्य लोगों द्वारा विजित हो गये और तब दो शक्तियों के बीच विभाजन पुनः आरंभ हो गया। यद्यपि यह विभाजन मुसलमानों में उतना प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता जितना ईसाइयों में, तथापि उनमें भी और विशेषकर अली के संप्रदाय में यह अंतर वर्तमान है, और ऐसे राज्य वर्तमान हैं, उदाहरणार्थ ईरान, जिनमें यह अब भी अवलोकित हो सकता है।

हम लोगों में, इंगलैण्ड के राजाओं ने अपने आपको धर्म का प्रमुख प्रतिष्ठापित कर लिया। जार ने भी ऐसा ही किया है। परन्तु इस उपाधि द्वारा उन्होंने अपने आपको

धर्म का प्रशासी अधिकारी ही बनाया है, शासक नहीं। धर्म को परिवर्तित करने का अधिकार अवाप्त नहीं किया है केवल संधृत करने का ही ; वे धर्म के विधायक नहीं बन सके, परन्तु धर्म के राजक ही बने। जहाँ कहीं पादड़ी लोग एक निगम स्थापित कर लेते हैं[1] वे अपने देश के स्वामी तथा विधायक होते हैं। इस प्रकार इंगलैण्ड और रूस में भी दूसरे देशों के समान दो शक्तियाँ और दो सार्वभौमिक सत्ताधिकारी ही रहे।

सब ईसाई लेखकों में केवल दार्शनिक हौब्स ही एक ऐसा है जिसने इस दोष का तथा इसके प्रतिकार का प्रत्यक्ष निरूपण किया है और जिसने यह प्रस्ताव करने का साहस किया है कि चील के सिरों को पुनः संयुक्त कर देना चाहिये और राजनीतिक एकरूपता को संपूर्णतया पुनः स्थापित कर देना चाहिये, क्योंकि इसके बिना कोई राज्य और शासन सुसंगठित नहीं हो सकता। परन्तु इस दार्शनिक को देखना चाहिये था कि ईसाइयत का मदोद्धत्त सत्व उसकी पद्धति से असंगत है और राज्य की अपेक्षा पुरोहित का हित सदा अधिक प्रबल होनेवाला है। यदि इसका सिद्धान्त अप्रिय हुआ है तो इसके भयानक और मिथ्याखंडों के कारण नहीं बल्कि न्याय और सत्य खंडों के कारण ही हुआ है[2]।

मेरी मान्यता है कि ऐतिहासिक तथ्यों को इस दृष्टिकोण से विकसित करके बेल और बार्बटन के विपरीत मत सुगमता से खंडित हो सकते हैं। बेल की धारणा है कि कोई धर्म भी राजनीतिक निकाय को लाभप्रद नहीं होता। इसके विपरीत बार्बटन का

१. यह निरूपित करना आवश्यक है कि जो पादड़ियों को एक निगम में बद्ध करता है वह फ्रांस के समान नियमित परिषदों का अस्तित्व नहीं होता परन्तु सम्प्रदायों का सम्पर्क होता है। सम्पर्क और बहिष्कार, ये पादड़ियों के सामाजिक पाषण हैं और इस पाषण द्वारा वे सदा राजाओं और राष्ट्रों के स्वामी बने रहेंगे। सब पुरोहित जो समान सम्पर्क के हैं सह-नागरिक हैं यद्यपि वे एक दूसरे के इतने दूरस्थ हैं जितने ध्रुव। यह आविष्कार नीति की एक अत्युत्तम रचना है। मूर्तिपूजक पुरोहितों में इसके समान कुछ नहीं था, इसीलिये वे कभी पादड़ियों का निगम निर्माण नहीं कर सके।

२. अवलोकन हो, दूसरों के मध्य, ग्रोशस के ११ अप्रैल, १९४३ को अपने भाई को लिखे एक पत्र में, कि वह विद्वान मनुष्य De Cive पुस्तक में किस बात का अनुमोदन करता था और किसको दूषित समझता था। यह सत्य है कि, दयालु प्रवृत्ति होने के कारण, वह लेखक को अच्छाई की वजह से दूषित भाग के लिये क्षमित करता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति इतना दयालु नहीं होता।

दृढ़ मत है कि ईसाइयत राजनीतिक निकाय का प्रबलतम समर्थन होता है। पूर्व लेखक के हितार्थ यह प्रमाणित किया जा सकता है कि कोई राज्य भी उसका आधार धर्म हुए बिना प्रस्थापित नहीं हो सका है, और द्वितीय लेखक के हितार्थ कि ईसाई विधान राज्य के दृढ़ संविधान के लिये लाभप्रद होने की अपेक्षा अधिक क्षतिप्रद है। मुझे अपने विषय को समझाने में सफल होने के लिये, धर्म के संबंध में अति अनिश्चित विचारों को कुछ सुतथ्यता देनी ही पड़ेगी।

समाज के संबंध में अवलोकित करते हुए, जो साधारण अथवा विशिष्ट होती है धर्म के भी दो प्रकार किये जा सकते ह—अर्थात् मनुष्य का धर्म अथवा नागरिक का धर्म। प्रथम प्रकार जिसमें न मंदिर, न वेदियाँ, न संस्कार होते हैं और जो वरिष्ट ईश्वर की पूर्णरूपेण आन्तरिक पूजा और शील के शाश्वत दायित्वों तक सीमित होता है, इंजील का पवित्र और सरल धर्म है, यह सत्य ईश्वरवाद है जिसे प्राकृतिक ईश्वरीय विधान भी कहा जा सकता है। द्वितीय प्रकार जो किसी एक देश में अंकित होता है, उस देश को उसके देवता और विशिष्ट और समृद्धिदायक संरक्षक प्रदान करता है; इसके सिद्धान्त होते हैं, संस्कार होते हैं और विधानों द्वारा स्थापित बाह्य पूजा होती है ; उस एकल राष्ट्र के अतिरिक्त जो इसका पालन करता है, इसकी दृष्टि में प्रत्येक वस्तु नास्तिक, विदेशी और असभ्य होती है; इसके अन्तर्गत मनुष्यों के कर्तव्य और अधिकार केवल इसकी वेदियों तक ही सीमित होते हैं। आद्य राष्ट्रों के धर्म जिन्हें ईश्वरीय, सामाजिक अथवा यथार्थ विधान कहा जाता है, सब इसी प्रकार के थे।

एक तीसरे प्रकार का, और अधिक अतिशय रूपी, धर्म भी है, जो मनुष्यों को दो विधानों की श्रेणियाँ, दो राजक और दो देश देने के कारण उन पर विरोधाभासी दायित्व आरोपित करता है और साथ ही उन्हें धार्मिक मनुष्य और नागरिक बनने से निवारित करता है। यह लामा लोगों का धर्म है, यह जापानियों का धर्म है और यह रोमन ईसाइयत का धर्म है। इस प्रकार को पुरोहित का धर्म भी कहा जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप एक सम्मिश्रित प्रकार का विधान उत्पादित होता है जिसका कोई नाम ही नहीं है।

राजनीतिक दृष्टि से अवलोकित करने पर इन तीनों प्रकारों के धर्मों में दोष पाये जाते हैं। तीसरा तो प्रत्यक्षतः इतना दोषी है कि इसका प्रमाण देने के लिये रुकना समय का क्षयमात्र होगा। जो सामाजिक एकता को विनष्ट करता है वह सर्वथा दोषी है। वे सब संस्थाएँ जो मनुष्य को अपने प्रति प्रतिशोधावस्था में स्थापित करती हैं, गुणहीन हैं।

दूसरा उस सीमा तक अच्छा है जिस सीमा तक वह ईश्वरीय पूजा को विधानों के प्रेम से सम्मिलित करता है और देश को नागरिकों की भक्ति का केन्द्र बनाकर उन्हें यह शिक्षा देता है कि राज्य की सेवा शासक देवता की सेवा है । यह ईश्वरवाद का एक प्रकार है जिसमें शासनाधिकारी के अतिरिक्त कोई प्रधान पादड़ी नहीं होता और दंडाधिकारियों के अतिरिक्त कोई पुरोहित नहीं होता । देश के लिये मरना शहीद की मौत मरना समझा जाता है, विधानों का उल्लंघन करना भ्रष्ट कार्य माना जाता है और किसी अपराधी मनुष्य को सार्वजनिक घृणा द्वारा दंडित किया जाना उसको देवताओं के कोप को समर्पण किया जाना माना जाता है—"इसे पतित होने दो ।"

परन्तु यह प्रकार दोषी भी है क्योंकि विभ्रम और मिथ्यात्व पर आधारित होने के कारण यह मनुष्यों को वंचित करता है, उन्हें अन्ध-विश्वासी और असत्यधर्मी बना देता है, और ईश्वर की सत्य पूजा को निरर्थक अनुष्ठानों द्वारा अस्पष्ट कर देता है। अपरंच यह तब दोषी होता है जब अपवर्जी और अत्याचारी होकर यह राष्ट्र को क्रूर और असहिष्णु बना देता है, ताकि राष्ट्र वध और संहार के अतिरिक्त किसी और वस्तु का प्यासा नहीं रहता, और यह मानने लग जाता है कि प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो इसके देवताओं को स्वीकार नहीं करता, मारने से यह पवित्र कार्य संपादित कर रहा है । इस प्रकार यह राष्ट्र को अन्य समस्त राष्ट्रों के प्रति स्वाभाविक युद्ध-स्थिति में संस्थापित कर देता है, जो राष्ट्र की अपनी सुरक्षा की दृष्टि से बहुत प्रतिकूल होती है ।

इस प्रकार केवल मनुष्य का धर्म अथवा ईसाइयत बचता है, वर्तमान की ईसाइयत नहीं, परन्तु इंजील की ईसाइयत जो वर्तमान के धर्म से बिलकुल विभिन्न है। इस पावन, उन्नत और पवित्र धर्म से मनुष्य जो एक ही ईश्वर के बच्चे हैं, एक दूसरे को अपने भाई मानते हैं और जो सामाजिक बंध उन्हें संयुक्त करता है, मृत्यु पर भी लुप्त नहीं होता ।

परन्तु यह धर्म राजनीतिक निकाय से कोई विशिष्ट संबंध न रखने के कारण विधानों को केवल उस बल के सहारे छोड़ देता है जो वे स्वतः प्राप्त करते हैं, अन्य कोई बल उनमें युक्त नहीं होता, और इस कारण उस विशिष्ट समाज का एक महान् बंध प्रभावहीन रह जाता है । इससे भी अधिक, नागरिकों के हृदय को राज्य से अनुरक्त करने की अपेक्षा यह उन्हें राज्य से और सब सांसारिक वस्तुओं से विरक्त कर देता है ; सामाजिक सत्व के इससे अधिक विपरीत वस्तु का मुझे ज्ञान नहीं है ।

कहा जाता है कि वास्तविक ईसाइयों का राष्ट्र संपूर्णतम चित्य समाज का निर्माता होगा। इस कल्पना में मुझे केवल एक महान् कठिनाई लगती है; वह यह कि वास्तविक ईसाइयों का समाज मनुष्यों का समाज न रह पायगा।

मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यह कल्पित समाज संपूर्ण होते हुए भी न प्रबलतम होगा और न स्थायीतम। संपूर्ण होने के कारण ही इसमें संलाग का अभाव होगा; वास्तव में इसकी पूर्णता ही इसका विनाशकारी दोष होगा।

प्रत्येक मनुष्य अपना कर्तव्य पालन करेगा; लोग विधानों का अनुसरण करेंगे, प्रमुख मनुष्य न्यायसंगत और अनतिगामी होंगे, दंडाधिकारी ईमानदार और अशोधनीय होंगे, सैनिक मृत्यु का तिरस्कार करेंगे, अभिमान और विलासिता का अभाव होगा। यह सब बहुत उत्तम है, परन्तु जरा आगे देखिये।

ईसाइयत संपूर्णतया एक आध्यात्मिक धर्म है जिसका समस्त संबंध स्वर्गीय वस्तुओं से है; ईसाइयों का देश इस संसार का नहीं होता। यह सत्य है कि ईसाई अपना कर्तव्य पालन करता है, परन्तु अपने प्रयत्नों की सफलता अथवा विफलता के प्रति गंभीर उदासीनता के साथ। जब तक वह कोई निन्दनीय कार्य नहीं करता, उसे इसकी कतई चिन्ता नहीं कि इस संसार में भलाई है अथवा बुराई। यदि राज्य समृद्ध होता है तो सार्वजनिक मोद का उपभोग करने का वह साहस नहीं कर सकता है, अपने देश की प्रसिद्धि में गर्वित होने में वह डरता है; यदि राज्य अवनत हो जाय तो भी वह ईश्वर के हस्त का, जो उसके लोगों पर कठोरता से पड़ता है, गुणगान ही करता है।

समाज को शान्तिपूर्ण बनाने और संध्वनि संस्थापित करने के लिये, यह आवश्यक होता है कि बिना अपवाद सब नागरिक समानरूप में उत्तम ईसाई हों। परन्तु यदि दुर्भाग्य से एक भी मनुष्य आकांक्षी हो जाय, पाखंडी हो जाय, उदाहरणार्थ कैटीलीन या क्रौमवेल समान हो जाय, तो निश्चित रूप से ऐसा मनुष्य अपने धार्मिक देशवासियों की अपेक्षा अधिक प्रलाभ प्राप्त कर लेगा। ईसाई दयालुता मनुष्यों को शीघ्रतया अपने पड़ोसियों के अहित चिंतन की आज्ञा नहीं देती। ज्योंही चतुराई से कोई मनुष्य उनको वंचित करने और स्वतः सार्वजनिक प्रभुत्व का भाग अवाप्त करने की कला प्राप्त कर लेता है, वह गौरव से विनियोजित हो जाता है; ईश्वर की यह इच्छा हो जाती है कि वह आदरित हो जाय, शीघ्र ही वह स्वामित्व धारण करने लग जाता है; ईश्वर की इच्छा होती है कि उसका आज्ञानुपालन हो। इस शक्ति का निक्षेपक यदि उसका दुरुपयोग करने लगे, तो यह एक ऐसी छड़ी मानी जाती है जिसके द्वारा ईश्वर

अपने बच्चों को दंडित कर रहा है। बलाधिकारी को निष्कासित करने में लोगों को संशय होगा ; ऐसा करने के लिये सार्वजनिक शान्ति को क्षुब्ध करना, हिंसा का प्रयोग करना और रक्त का बहाना आवश्यक होगा। यह सब कुछ ईसाई विनय के अनुरूप नहीं; और अंत में क्या यह बहुत महत्व की बात है कि लोग इन संतापों के दर्रे में स्वतंत्र हैं अथवा दास ? महत्त्वपूर्ण वस्तु तो स्वर्ग को प्राप्त करना है, और त्याग-भावना उस उद्देश्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन है।

कोई विदेशी युद्ध आरंभ हो जाता है। नागरिक बिना अनुकूलता के युद्ध में भाग लेने को प्रस्थान करते हैं ; कोई प्लवन की नहीं सोचता ; वे अपना कर्तव्य पालन करते हैं, परन्तु विजय की तीव्र अभिलाषा के बिना; वे विजय करने की अपेक्षा मरना अधिक अच्छी तरह से जानते हैं। यह कौन-सी महत्त्व की बात है कि वे विजेता हैं अथवा विजित ? क्या परमेश्वर अधिक अच्छी तरह नहीं जानता कि उनके लिये क्या आवश्यक है ? सोचिये तो सही कि एक साहसी, तीव्र और उत्साही शत्रु इस निस्पृह उदासीनता से क्या प्रलाभ न उठायेगा। इनके विरुद्ध ऐसे अभिजात राष्ट्रों को स्थिर कीजिये जो कीर्ति और देश के उग्र प्रेम से उत्तेजित हुए हैं, ईसाई गणराज्य को स्पार्टा अथवा रोम के विरोध में कल्पित कीजिये। अपने आपको एकत्रित करने का समय प्राप्त करने के पूर्व ही धार्मिक ईसाई पराजित, दलित और विनष्ट हो जायेंगे, अथवा उनकी सुरक्षा केवल शत्रुओं की उनके प्रति घृणा के परिणामस्वरूप ही हो सकेगी। मेरे विचार में फेबियस के सैनिकों की शपथ बहुत उत्कृष्ट थी ; वे मरने अथवा विजय प्राप्त करने की शपथ नहीं लेते थे, वे विजितों के रूप में वापिस न होने की शपथ लेते थे और अपनी शपथ को निबाहते थे। ईसाई कभी ऐसा नहीं कर सकते ; उनकी तो यह धारणा होती है कि ऐसी शपथ लेकर वे ईश्वर के क्रोध को आकर्षित कर रहे हैं।

परन्तु मैं ईसाई गणराज्य की बात करके गलती करता हूँ; यह दोनों शब्द परस्पर में अपवर्जी हैं। ईसाइयत केवल सेवाभाव और अधीनता का उपदेश करती है। अत्याचार के लिये यह सत्व इतना अनुकूल है कि यह हो नहीं सकता कि अत्याचार सदा इसका लाभ न उठाये। वास्तविक ईसाई दास बनने के योग्य हैं; उन्हें इसका ज्ञान है और इससे उत्तेजित नहीं होते; उनकी दृष्टि में इस क्षीण जीवन का क्षुद्रतम महत्त्व है।

कहा जाता है कि ईसाई सेनाएँ बहुत श्रेष्ठ हैं। मैं इसे अस्वीकार करता हूँ। कोई मुझे श्रेष्ठ ईसाई सेना दिखाये। जहाँ तक मेरी बात है मैं तो किसी ईसाई सेना का अस्तित्व भी नहीं जानता। लोग मेरे समक्ष धर्मयुद्धों का प्रोद्धरण करेंगे। धर्मयोद्धाओं

के साहस पर शंका किये बिना, मैं यह कहूँगा कि ईसाई होने की अपेक्षा वे पुरोहित के सैनिक थे, धार्मिक संस्था के नागरिक थे; उन्होंने अपने आध्यात्मिक देश के लिये युद्ध किया, जिसे धार्मिक संस्था ने किसी प्रकार सांसारिक बना दिया था। वास्तव में यह तो मूर्तिपूजा की ओर प्रवृत्त करता है, क्योंकि इंजील ने कोई राष्ट्रीय धर्म स्थापित नहीं किया, इसलिये ईसाइयों में धार्मिक युद्ध असंभव है।

मूर्तिपूजक सम्राटों के अधीन ईसाई सैनिक अवश्य बहादुर थे; सब ईसाई लेखक इसकी पुष्टि करते हैं और मैं भी इसे मानता हूँ। मूर्तिपूजक सेनाओं के विरुद्ध सन्मान की स्पर्द्धा थी। जब सम्राट् ईसाई हो गये तो यह स्पर्द्धा निर्वाहित न रही; और जब टिकटी ने चील को निष्कासित कर दिया, तो समस्त रोमी साहस विलुप्त हो गया।

परन्तु राजनीतिक विचारों को उत्सादित करते हुए हमें अधिकार के विषय पर वापिस जाना चाहिये और इस महत्त्वपूर्ण विषय के सिद्धान्त का निरूपण करना चाहिये। मैं पहले भी कह चुका हूँ कि जो अधिकार सामाजिक पाषण द्वारा सार्वभौम सत्ताधिकारी को अपनी प्रजा पर प्राप्त होते हैं वे सार्वजनिक उपयोगिता की सीमाओं के परे नहीं होते। उस दशा को छोड़कर जब प्रजा का मत समाज के लिये महत्त्वपूर्ण होता है, प्रजा सार्वभौमिक सत्ताधिकारी को अपने मत से अवगत कराने को बाध्य नहीं होती।[1] परन्तु राज्य के लिये यह बहुत आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक का एक धर्म हो जिससे वह अपनी कर्त्तव्य पूर्ति में संतोष प्राप्त कर सके; परन्तु अतिरिक्त उस परिस्थिति के जहाँ उस धर्म के सिद्धांत उस शील अथवा उन कर्तव्यों पर प्रभाव डालते हों जो इस धर्म का अनुयायी अन्यों के प्रति पालन करने को बाध्य होता है, इस धर्म के सिद्धांत न राज्य से और न सदस्यों से संबंध रखते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार

१. मार्क्विस दार्गासो कहता है कि समधिराज्य में प्रत्येक व्यक्ति वह करने को जिससे वह अन्य को क्षति नहीं पहुँचाता संपूर्णतया स्वतंत्र होता है।" यह अपरिवर्तनीय मर्यादा होती है; इसका निरूपण अधिक निश्चित रूप में नहीं किया जा सकता। इस पांडुलिपि से कहीं कहीं उद्धरण लेने के मोद से मैं अपने आपको निर्वर्तित नहीं कर सका हूँ, हालाँकि इस पांडुलिपि का लोगों को ज्ञान नहीं है; यह मैंने इसलिये किया है कि एक प्रसिद्ध और सम्माननीय मनुष्य की स्मृति को आदरित किया जा सके जिसने पदाधिकारी होते हुए भी एक सत्य नागरिक के हृदय को संरक्षित रखा और निज शासन के प्रति न्याय और स्वस्थ मतों को संधृत किया।

मत धारण कर सकता है, और सार्वभौमिक सत्ता का यह व्यापार नहीं होता कि वह उसके मत को जाने। क्योंकि उसका अधिकार-क्षेत्र अन्य आगामी संसार में न होने के कारण, उसकी प्रजा का आगामी जीवन में जो कुछ भी प्रारब्ध हो, उससे संबंधित नहीं होता, जब तक कि वे इस जीवन में उत्तम नागरिक रहे हों।

परन्तु एक विशुद्ध सामाजिक धार्मिक विश्वास होता है जिसके पदों का निरूपण सार्वभौमिक सत्ताधिकारी का कर्त्तव्य होता है, ये पद धार्मिक अनुष्ठानों के रूप में नहीं होते, परन्तु संसर्गिता के सत्वों के रूप में होते हैं, जिनके बिना किसी का उत्तम नागरिक और सहृदय प्रजा बनना असंभव होता है।[1] किसी व्यक्ति को उन पदों में विश्वास करने को बाध्य करने की शक्ति न रखते हुए भी सार्वभौमिक सत्ताधिकारी को यह अधिकार होता है कि जो इन पदों में विश्वास नहीं करता उसे राज्य से निष्कासित कर दे; वह निष्कासित अधर्मी होने के कारण नहीं किया जाता, परन्तु असंसर्गी होने के कारण किया जाता है, जो विधान और न्याय को सद्भावना से प्रेम करने और आवश्यकता होने पर कर्तव्य के प्रति अपने जीवन की बलि करने को असमर्थ है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति, इन पदों को सार्वजनिक स्वीकृति देने के अनंतर, एक अविश्वासी के समान आचरण करे, तो उसे मृत्युदंड से दंडित किया जाना चाहिये; उसने महानतम अपराध किया है, क्योंकि विधानों के समक्ष झूठ बोला है।

सामाजिक धर्म के सिद्धांत सरल और संख्या में न्यून होने चाहिये, उन्हें व्याख्या और विवेचना के बिना सुतथ्यता से उल्लिखित किया जाना चाहिये। शक्तिशाली, बुद्धिमान, उपकारी, भविष्यज्ञाता और दानशील परमात्मा का अस्तित्व, भविष्यक जीवन, न्यायपरायणों का हर्ष, दुष्टों का दंड, सामाजिक पाषण और विधानों की पवित्रता ये अनुलोम सिद्धांत हैं। जहाँ तक विलोम सिद्धांतों का प्रश्न है, मैं उन्हें केवल एक तक सीमित करता हूँ, और वह है असहिष्णुता। जिन धर्मों को हमने अपवर्जित किया है, यह उनका गुण है।

१. कैटलीन का अभिवचन करते हुए, सीज़र ने आत्मा के मरण के सिद्धांत को संस्थापित करने का प्रयत्न किया। कैठो और सिसरो ने उसका खंडन करने के लिये दार्शनिक विवेचन में समय क्षय नहीं किया; वे केवल यह प्रदर्शित करने से ही संतुष्ट हुए कि सीज़र की युक्ति एक बुरे नागरिक की युक्ति है और जो सिद्धान्त उसने स्थापित किया है वह राज्य के लिये हानिकारक होगा। वास्तव में रोम की शिष्ट सभा में जिसका निर्णय करना था वह यही प्रश्न था, कोई आध्यात्मिक प्रश्न नहीं।

वे जो सामाजिक असहिष्णुता और आध्यात्मिक असहिष्णुता में भेद करते हैं, मेरे मत से गलती पर हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकार की असहिष्णुता अविभेद्य है। जिन लोगों को हम दुष्कर्मी समझते हैं उनके साथ शान्ति से रहना असंभव है; उन्हें प्रेम करने का अर्थ यह है कि ईश्वर से जो उन्हें दंडित करता है घृणा की जाय; ऐसे लोगों को सुधारना अथवा दंडित करना सर्वथा अनिवार्य है। जहाँ आध्यात्मिक असहिष्णुता अनुमत होती है, इसका सामाजिक जीवन पर कुछ प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता,[1] और ज्योंही यह प्रभाव पड़ता है सार्वभौमिक सत्ता लौकिक कार्यों में भी नहीं रह जाती; उस समय पुरोहित वास्तविक स्वामी बन जाते हैं; राजा उनके पदाधिकारी मात्र रह जाते हैं।

क्योंकि कोई अपवर्जी राष्ट्रीय धर्म न है और न हो सकता है, इसलिए हमें उन सबके प्रति सहिष्णु होना चाहिये जो अन्यों के प्रति सहिष्णु हैं, जब तक कि उनके सिद्धांतों में नागरिकों के कर्त्तव्यों के विपरीत कुछ निहित न हो। परन्तु जो कोई भी यह कहने का साहस करे कि धार्मिक संस्था के बाहर मुक्ति नहीं, उसे राज्य से निष्कासित किया जाना चाहिये, जब तक कि राज्य ही धार्मिक संस्था न बन जाय और शासनाधिकारी ही मुख्य पादड़ी न बन जाय। यह सिद्धांत केवल धर्मराजतंत्रात्मक शासन में ही उपयुक्त होता है, अन्य किसी शासन में यह अपकारक है। जिस कारण के बल पर हैनरी-४ ने रोमीय धर्म को अंगीकार किया वह कारण किसी सम्माननीय मनुष्य के लिये इसे परित्यजन करने का हेतु होना चाहिये था, विशेषकर ऐसे राजक के लिये जो तर्क की क्षमता रखता हो।

१ उदाहरणार्थ, सामाजिक बंध होने के कारण विवाह के सामाजिक परिणाम होते हैं जिनके बिना समाज का निर्वाहित होना तक असंभव होता है। आप मानिये कि एक पादड़ी विवाह क्रिया को प्रतिपादित करने का एकमेव अधिकार प्राप्त करने में सफल हो जाय, यह अधिकार उसको अनिवार्य रूप में प्रत्येक असहिष्णु धर्म से ही प्राप्त हो सकता है, तो क्या यह स्पष्ट नहीं है कि धर्मसंस्था के प्रभुत्व को दृढ़ करने का अवसर प्राप्त करते हुए यह शासनाधिकारी के प्रभुत्व को प्रभाव हीन कर देगा, क्योंकि शासनाधिकारी किसी ऐसी प्रजा को प्राप्त न कर सकेगा जिसे वह पादड़ी उसे प्रदान करने को मोदित न हो। इस आधार पर कि लोग किसी विशिष्ट सिद्धान्त में विश्वास

रखते हैं अथवा नहीं, कि किसी सूत्रसमूह को स्वीकार करते हैं अथवा नहीं, और किसी धर्म में अधिक भक्ति रखते हैं अथवा न्यून, लोगों का विवाह संपन्न करने अथवा न करने का विकल्प प्राप्त होने के कारण, क्या यह स्पष्ट नहीं है कि केवल धर्मसंस्था ही चतुरता से आचरण करके, और सुदृढ़ रहकर दायों, पदों, नागरिकों और स्वतः राज्य को जो केवल विजातों द्वारा संघटित होकर निर्वाहित नहीं रह सकता, विनियोजित करने की अधिकारी बन जायगी ? परन्तु यह कहा जाता है कि मनुष्य दोषों के विरुद्ध अभ्यवाहन कर सकेंगे; वे आहूत करेंगे, प्रादेश प्रसारित करेंगे, और सांसारिक लाभों को अर्जित करेंगे। कितना दयनीय है। पादड़ी लोग चाहे उनमें, मैं साहस की नहीं कहता हूँ परन्तु सुचेतना की, कितनी ही कमी क्यों न हो, ऐसा होने देंगे और अपना कार्य करते रहेंगे; वे शान्तिपूर्वक अभ्यवाहन, स्थगन, प्रादेशन और ग्रसन होने देंगे और अंत में स्वामी रहेंगे। मेरी मान्यता है कि एक अंश को परित्यक्त करने में कोई बलिदान नहीं होता जब कि व्यक्ति को संपूर्ण का प्रधारण प्राप्त करने की निश्चितता हो।

परिच्छेद ९

परिणाम

राजनीतिक अधिकारों के सत्य सिद्धान्तों को निरूपित करने और राज्य को अपने आधारों पर संस्थापित करने के प्रयत्नों के पश्चात् इसे केवल बाह्य संबंधों में सुदृढ़ करने की आवश्यकता रहेगी। ऐसे बाह्य संबंधों में राष्ट्रों के विधान, व्यापार, युद्ध तथा विजय के अधिकार, सार्वजनिक अधिकार, सम्मैत्रियाँ, परक्रामण, और संधियाँ इत्यादि निहित होती हैं। परन्तु यह सब एक नवीन विषय से संबंधित है जो मेरे सीमित क्षेत्र के लिये अति विस्तृत है; मुझे तो और अधिक संकुचित क्षेत्र में अपने आपको सीमित रखना चाहिये था।